जैन-साधना में ध्यान

भारतीय अध्यात्मवादी परम्परा में ध्यान-साधना का अस्तित्व अति प्राचीनकाल से ही रहा है। यहाँ तक कि अति प्राचीन नगर मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से खुदाई में, जो सीलें आदि उपलब्ध हुई हैं, उनमें भी ध्यानमुद्रा में योगियों के अंकन पाये जाते हैं।[१] इस प्रकार ऐतिहासिक अध्ययन के जो भी प्राचीनतम स्रोत हमें उपलब्ध हैं, वे सभी भारत में ध्यान की परम्परा के अति प्राचीनकाल से प्रचलित होने की पुष्टि करते हैं उनसे यह भी सिद्ध होता है कि भारत में ध्यानमार्ग की परम्परा प्राचीन है और उसे सदैव ही आदरपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है।

श्रमणधारा और ध्यान

औपनिषदिक और उसकी सहवर्ती श्रमण-परम्पराओं में साधना की दृष्टि से ध्यान का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। औपनिषदिक ऋषिगण और श्रमण-साधक अपनी दैनिक जीवनचर्या में ध्यान-साधना को स्थान देते रहे हैं- यह एक निर्विवाद तथ्य है। तान्त्रिक साधना में ध्यान को जो स्थान मिला है, वह मूलतः इसी श्रमणधारा की देन है। महावीर और बुद्ध के पूर्व भी अनेक ऐसे श्रमण साधक थे, जो ध्यान-साधना की विशिष्ट विधियों के न केवल ज्ञाता थे, अपितु अपने सान्निध्य में अनेक साधकों को उन ध्यान-साधना की विधियों का अभ्यास भी करवाते थे। इन आचार्यों की ध्यान-साधना की अपनी-अपनी विशिष्ट विधियाँ थीं, ऐसे संकेत भी मिलते हैं। बुद्ध अपने साधनाकाल में ऐसे ही एक ध्यानसाधक श्रमण आचार्य रामपुत्त के पास स्वयं ध्यान-साधना के अभ्यास के लिए गये थे। रामपुत्त के संबंध में त्रिपिटक साहित्य में यह भी उल्लेख मिलता है कि स्वयं भगवान् बुद्ध ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् भी अपनी साधना की उपलब्धियों को बताने हेतु उनसे मिलने के लिए उत्सुक थे, किन्तु तब तक उनकी मृत्यु हो चुकी थी।[२] इन्ही रामपुत्त का उल्लेख जैन-आगम साहित्य में भी आता है। प्राकृत आगमों में सूत्रकृतांग[३] में उनके नाम के निर्देश के अतिरिक्त अन्तकृद्दशा[४] ऋषिभाषित[५] आदि में तो उनसे संबंधित स्वतंत्र अध्याय भी रहे थे। दुर्भाग्य से अन्तकृद्दशा का वह अध्याय तो आज लुप्त हो चुका है, किन्तु ऋषिभाषित[६] में उनके उपदेशों का संकलन आज भी उपलब्ध है।

बुद्ध और महावीर को ज्ञान का जो प्रकाश उपलब्ध हुआ वह उनकी ध्यान-साधना का परिणाम ही था, इसमें आज किसी प्रकार का वैमत्य नहीं है। किन्तु हमारा यह दुर्भाग्य है कि प्राचीन साहित्य में भी ध्यान-साधना की इन पद्धतियों के विस्तृत विवरण आज उपलब्ध नहीं हैं, मात्र यत्र-तत्र विकीर्ण निर्देश ही हमें मिलते हैं। फिर भी जो सूचनायें उपलब्ध हैं, उनके आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि औपनिषदिक ऋषिगण और श्रमण साधक अपने आध्यात्मिक विकास के लिए ध्यान-साधना की विभिन्न पद्धतियों का अनुसरण करते थे। उनकी ध्यान-साधना-पद्धतियों के कुछ अवशेष आज भी हमें योग-परम्परा के साथ-साथ जैन और बौद्ध परम्पराओं में मिल जाते हैं।

जैन-धर्म और ध्यान

श्रमण परम्परा की निर्ग्रन्थधारा, जो आज जैन-परम्परा के नाम से जानी जाती है, अपने अस्तित्व काल से ध्यान-साधना से जुड़ी हुई है। प्राकृत-साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथों आचारांग उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित (इसिभासियाइं) में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शरीर में जो स्थान मस्तिष्क का है, साधना में वही स्थान ध्यान का है।[७] उत्तराध्ययनसूत्र में श्रमण-जीवन की दिनचर्या का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि प्रत्येक श्रमणसाधक को दिन और रात्रि के दूसरे प्रहर में नियमित रूप से ध्यान करना चाहिए।[८] आज भी जैन-श्रमण को निद्रात्याग के पश्चात्, भिक्षाचर्या एवं पदयात्रा से लौटने पर गमनागमन एवं मलमत्र आदि के विसर्जन के पश्चात् तथा प्रात:कालीन और सायंकालीन प्रतिक्रमण करते समय ध्यान करना होता है।[९] उसके आचार और उपासना के साथ कदम-कदम पर ध्यान की प्रक्रिया जुड़ी हुई है।

जैन-परम्परा में ध्यान का कितना महत्त्व है- इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि जैन-तीर्थंकरों की प्रतिमायें चाहे वे खड्गासन में हो या पद्मासन में सदैव ही ध्यानमुद्रा में उपलब्ध होती हैं। आज तक कोई भी जिन-प्रतिमा ध्यान-मुद्रा के अतिरिक्त किसी भी अन्य मुद्रा में उपलब्ध ही नहीं हुई है। यद्यपि तीर्थंकर या जिन-प्रतिमाओं के अतिरिक्त बुद्ध की भी कुछ प्रतिमायें ध्यानमुद्रा में उपलब्ध हुई हैं किन्तु बुद्ध की अधिकांश प्रतिमायें तो ध्यानेतर मुद्राओं- यथा अभयमुद्रा, वरदमुद्रा और उपदेशमुद्रा में ही मिलती हैं। इसी प्रकार शिव की कुछ प्रतिमायें भी ध्यानमुद्रा में मिलती हैं- किन्तु नृत्यमुद्रा आदि में भी शिव-प्रतिमायें विपुल परिमाण में उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार जहाँ अन्य परम्पराओं में अपने आराध्य देवों की प्रतिमायें ध्यानेतर मुद्राओं में भी बनती रहीं, वहाँ तीर्थंकर या जिनप्रतिमायें मात्र ध्यानमुद्रा में भी बनती रहीं। जिनप्रतिमाओं के निर्माण का दो सहस्र वर्ष का इतिहास इस बात का साक्षी है कि कभी भी कोई भी जिन-प्रतिमा/तीर्थंकर-प्रतिमा ध्यान-मुद्रा के अतिरिक्त किसी अन्य मुद्रा में नहीं बनाई गयी। इससे जैन-परम्परा में ध्यान का क्या स्थान रहा है- यह सुस्पष्ट हो जाता है। जैनाचार्यों ने ध्यान को साधना का मस्तिष्क माना है। जिस प्रकार मस्तिष्क के निष्क्रिय हो जाने पर मानव-जीवन का कोई अर्थ नहीं रह जाता है उसी प्रकार ध्यान के अभाव में जैन-साधना का कोई अर्थ नहीं रह जाता है।

ध्यान-साधना की आवश्यकता

मानव-मन स्वभावत: चंचल माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में मन को दुष्ट अश्व की संज्ञा दी गई है, जो कुमार्ग में भागता है।[१०] गीता में मन को चंचल बताते हुए कहा गया है कि उसको निगृहीत करना वायु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को रोकने के समान अति कठिन है।[११] चंचल मन में विकल्प उठते रहते हैं- इन्ही विकल्पों के कारण चैत्तसिक आकुलता या अशान्ति का जन्म होता है। यह आकुलता ही चेतना में उद्विग्नता या तनाव की उपस्थिति की सूचक है, चित्त की यह उद्विग्न या तनावपूर्ण स्थिति ही असमाधि या दु:ख है। इसी चैत्तसिक पीड़ा या दु:ख से विमुक्ति पाना समग्र आध्यात्मिक साधना-पद्धतियों का मूलभूत लक्ष्य है। इसे ही निर्वाण या मुक्ति कहा गया है।

मनुष्य में दु:ख-विमुक्ति की भावना सदैव ही रही है। यह स्वाभाविक है, आरोपित नहीं है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति तनाव या उद्विग्नता की स्थिति में जीना नहीं चाहता है। उद्विग्नता चेतना की विभावदशा है। विभावदशा से स्वभाव में लौटना ही साधना है। पूर्व या पश्चिम की सभी अध्यात्मप्रधान साधना-विधियों का लक्ष्य यही रहा है कि चित्त को आकुलता, उद्विग्नता या तनावों से मुक्त करके, उसे निराकुल, अनुद्विग्नता या तनावों से मुक्त करके, उसे निराकुल, अनुद्विग्न चित्तदशा या समाधिभाव में स्थित किया जाये। इसलिये साधना-विधियों का लक्ष्य निर्विकार और निर्विकल्प समतायुक्त चित्त की उपलब्धि ही है इसे ही समाधि-सामायिक (प्राकृत-समाहि) कहा गया है। ध्यान इसी समाधि या निर्विकल्प चित्त की उपलब्धि का अभ्यास है। यही कारण है कि वे सभी साधना-पद्धतियाँ जो व्यक्ति को अनुद्विग्न, निराकुल, निर्विकार और निर्विकल्प या दूसरे शब्दों में समत्वयुक्त बनाना चाहती हैं, ध्यान को अपनी साधना में अवश्य स्थान देती हैं।

ध्यान का स्वरूप एवं प्रक्रिया

जैनाचार्यों ने ध्यान को 'चित्तनिरोध' कहा है।[१२] चित्त का निरोध हो जाना ध्यान है। दूसरे शब्दों में यह मन की चंचलता को समाप्त करने का अभ्यास है। जब ध्यान सिद्ध हो जाता है तो चित्त की चंचलता स्वत: ही समाप्त हो जाती है। योगदर्शन में 'योग' को परिभाषित करते हुए भी कहा गया है कि चित्तवृत्ति का निरोध ध्यान से ही सम्भव है। अत: ध्यान को साधना का आवश्यक अंग माना गया है।

गीता में मन की चंचलता के निरोध को वायु को रोकने के समान अति कठिन माना गया है।[१३] उसमें उसके निरोध के दो उपाय बताये गये हैं- १. अभ्यास, २. वैराग्य। उत्तराध्ययन में मन रूपी दुष्ट अश्व को निगृहीत करने के लिए श्रुत रूपी रस्सियों का प्रयोग आवश्यक बताया गया है।[१४] चंचल चित्त की संकल्प-विकल्पात्मक तरंगें या वासनाजन्य आवेग सहज ही समाप्त नहीं हो जाते हैं। पहले उनकी भाग-दौड़ को समाप्त करना होता है। किन्तु यह वासनोन्मुख सक्रिय-मन या विक्षोभित चित्त निरोध के संकल्प मात्र से नियन्त्रित नहीं हो पाता है। पुन: यदि उसे बलात् रोकने का प्रयत्न किया जाता है तो वह अधिक विक्षुब्ध होकर मुनष्य को पागलपन के कगार पर पहुँचा देता है, जैसे तीव्र गति से चलते हुए वाहन को यकायक रोकने का प्रयत्न भयंकर दुर्घटना का ही कारण बनता है, उसी प्रकार चित्त की चंचलता का एकाएक निरोध विक्षिप्तता का कारण बनता है।

प्रथमत: मानव-मन की गतिशीलता को नियंत्रित कर उसकी गति की दिशा बदलनी होती है। ज्ञान या विवेकरूपी लगाम के द्वारा उस मन रूपी दुष्ट अश्व को कुमार्ग से सन्मार्ग की दिशा में मोड़ा जाता है। इससे उसकी सक्रियता एकाएक समाप्त तो नहीं होती, किन्तु उसकी दिशा बदल जाती है, ध्यान में भी यही करना होता है। ध्यान में सर्वप्रथम मन को वासना रूपी विकल्पों से मोड़कर धर्म-चिन्तन में लगाया जाता है। अन्त में एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब मन पूर्णत: निष्क्रिय हो, उसकी भागदौड़ समाप्त हो जाती है। ऐसा मन, मन न रहकर 'अमन' हो जाता है। मन हो 'अमन' बना देना ही ध्यान है।

इस प्रकार चैत्तसिक तनावों या विक्षोभों को समाप्त करने के लिए अथवा निर्विकल्प और शान्त चित्त-दशा की उपलब्धि के लिए ध्यान-साधना आवश्यक है। उसके द्वारा संकल्प-विकल्पों में विभक्त चित्त को केन्द्रित किया जाता है। विविध वासनाओं आकांक्षाओं और इच्छाओं के कारण चेतना-शक्ति अनेक रूपी में विखण्डित होकर स्वत: में ही संघर्षशील हो जाती है।[१५] उस शक्ति का यह बिखराव ही हमारा आध्यात्मिक पतन है। ध्यान इस चैत्तसिक विघटन को समाप्त कर चेतना को केन्द्रित करता है। चूंकि वह विघटित चेतना को संगठित करता है इसलिए वह योग (Unifications) है। ध्यान चेतना के संगठन की कला है। संगठित चेतना ही शक्तिस्रोत हैं, इसीलिए यह माना जाता है कि ध्यान से अनेक आत्मिक लब्धियाँ या सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

चित्तधारा जब वासनाओं, आकांक्षाओं, के मार्ग से बहती है तो वह वासनाओं, आकांक्षाओं इच्छाओं की स्वाभाविक बहुविधता के कारण अनेक धाराओं में विभक्त होकर निर्बल हो जाती है। ध्यान इस विभक्त एवं निर्बल चित्तधारा को एक दिशा में मोड़ने का प्रयास है। जब ध्यान की साधना या अभ्यास से चित्तधारा एक दिशा में बहने लगती है, तो न केवल वह सबल होती है, अपितु नियंत्रित होने से उसकी दिशा भी सम्यक् होती है। जिस प्रकार बाँध विकीर्ण जलधाराओं को एकत्रित कर उन्हें सबल और सुनियोजित करता है। जिस प्रकार बांध द्वारा सुनियोजित जल-शक्ति का सम्यक् उपयोग सम्भव हो पाता है उसी प्रकार ध्यान द्वारा सुनियोजित चेतनशक्ति का सम्यक् उपयोग सम्भव है।

संक्षेप में आत्मशक्ति के केन्द्रीकरण एवं उसे सम्यक् दिशा में नियोजित करने के लिए ध्यान-साधना आवश्यक है। वह चित्त-वृत्तियों की निरर्थक भागदौड़ को समाप्त कर हमें मानसिक विक्षोभों एवं विकारों से मुक्त रखता है। परिणामत: वह आध्यात्मिक शान्ति और निर्विकल्प चित्त की उपलब्धि का अन्यतम साधन है।

ध्यान के पारम्परिक लाभ

ध्यानशतक (झाणाज्झयन) में ध्यान से होने वाले पारम्परिक एवं व्यावहारिक लाभों की विस्तृत चर्चा हैं। उसमें कहा गया हैं कि धर्म ध्यान से शुभास्रव, संवर, निर्जरा और देवलोक के सुख प्राप्त होते हैं। शुक्ल ध्यान के भी प्रथम दो चरणों का परिणाम शुभास्रव एवं अनुत्तर देवलोक के सुख हैं, जबकि शुक्ल ध्यान के अन्तिम दो चरणों का फल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्ष या निर्वाण है। यहाँ यह स्मरण रखने योग्य है कि जब तक ध्यान में विकल्प है, आकांक्षा है, चाहे वह प्रशस्त ही क्यों न हों, तब तक वह शुभास्रव का कारण तो होगा ही। फिर भी यह शुभास्रव मिथ्यात्व के अभाव के कारण संसार की अभिवृद्धि का कारण नही बनता है।[१६]

पुन: ध्यान के लाभों की चर्चा करते हुए उसमें कहा गया है कि जिस प्रकार जल वस्त्र के मल को धोकर उसे निर्मल बना देता है, उसी प्रकार ध्यानरूपी जल आत्मा के कर्मरूपी मल को धोकर उसे निर्मल बना देता है। जिस प्रकार अग्नि लोहे के मैल को दूर कर देती है,[१७] जिस प्रकार वायु से प्रेरित अग्नि दीर्घकाल से संचित काष्ठ को जला देती है, उसी प्रकार ध्यानरूपी वायु से प्रेरित साधनारूपी अग्नि पूर्वभवों के संचित कर्म-संस्कारों को नष्ट कर देती है। उसी प्रकार ध्यानरूपी अग्नि आत्मा पर लगे हुए कर्मरूपी मल को दूर कर देती है।[१८] जिस प्रकार वायु से ताडित मेघ शीघ्र ही विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार ध्यानरूपी वायु से ताडित कर्मरूपी मेघ शीघ्र विलीन हो जाते हैं।[१९] संक्षेप में ध्यान-साधना से आत्मा, कर्मरूपी मल एवं आवरण से मुक्त होकर अपनी शुद्ध निर्विकार ज्ञाता-द्रष्टा अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

ध्यान और तनावमुक्ति

ध्यान के इस चार अलौकिक या आध्यात्मिक लाभों के अतिरिक्त ग्रन्थकार ने उसके ऐहिक, मनोवैज्ञानिक लाभों की भी चर्चा की है, वह कहता है कि जिसका चित्त ध्यान में संलग्न है, वह क्रोधादि कषायों से उत्पन्न होने वाले ईर्ष्या, विषाद, आदि मानसिक दु:खों से पीड़ित नहीं होता है।[२०] ग्रन्थकार के इस कथन का रहस्य यह है कि जब ध्यान में आत्मा अप्रमत्त चेता होकर ज्ञाता-द्रष्टा भाव में स्थिति होता है, तो उस अप्रमत्तता की स्थिति में न तो कषाय ही क्रियाशील होते हैं और न उनसे उत्पन्न ईर्ष्या, द्वेष, विषाद आदि भाव ही उत्पन्न होते हैं। ध्यानी व्यक्ति पूर्व संस्कारों के कारण उत्पन्न होने वाले कषायों के विपाक को मात्र देखता है, किन्तु उन भावों में परिणित नहीं होता है। अत: काषायिक भावों की परिणति नहीं होने से उसके चित्त के मानसिक तनाव समाप्त हो जाते हैं। ध्यान मानसिक तनावों से मुक्ति का अन्यतम साधन है। ध्यानशतक (झाणाज्झयण) के अनुसार ध्यान से न केवल आत्म विशुद्धि और मानसिक तनावों से मुक्ति मिलती है, अपितु शारीरिक पीड़ायें भी कम हो जाती हैं। उसमें लिखा है कि जो चित्त ध्यान में अतिशय स्थिरता प्राप्त कर चुका है, वह शीत, उष्ण आदि शारीरिक दु:खों से भी विचलित नहीं होता है। उन्हें निराकुलतापूर्वक सहन कर लेता है।[२१] यह हमारा व्यावहारिक अनुभव है कि जब हमारी चित्तवृत्ति किसी विशेष दिशा में केन्द्रित होती है तो हम शारीरिक पीड़ाओं को भूल जाते हैं; जैसे एक व्यापारी व्यापार में भूख-प्यास आदि को भूल जाता है। अत: ध्यान में दैहिक पीड़ाओं का एहसास भी अल्पतम हो जाता है।

ध्यान के व्यावहारिक लाभ

आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग, जो ध्यान-साधना की अग्रिम स्थिति है, के लाभों की चर्चा करते हुए आवश्यकनिर्युक्ति में लिखा है कि कायोत्सर्ग के निम्न पाँच लाभ हैं-[२२] १. देह जाड्य शुद्धि- श्लेष्म एवं चर्बी के कम हो जाने से देह की जड़ता समाप्त हो जाती है। कायोत्सर्ग से श्लेष्म, चर्बी आदि नष्ट होते हैं, अत: उनसे उत्पन्न होने वाली जड़ता भी नष्ट हो जाती है। २. मति जाड्य शुद्धि- कायोत्सर्ग में मन की वृत्ति केन्द्रित हो जाती है, उससे बौद्धिक जड़ता क्षीण होती है। ३. सुख-दु:ख-तितिक्षा (समताभाव) ४. कायोत्सर्ग में स्थित व्यक्ति अनुप्रेक्षाओं या भावनाओं का स्थिरतापूर्वक अभ्यास कर सकता है। ५. ध्यान-कायोत्सर्ग में शुभ ध्यान का अभ्यास सहज हो जाता है। इन लाभों में न केवल आध्यात्मिक लाभों की चर्चा है अपितु मानसिक और शारीरिक लाभों की भी चर्चा है। वस्तुत: ध्यान-साधना की वह कला है जो न केवल चित्त की निरर्थक भाग-दौड़ को नियंत्रित करती है, अपितु वाचिक और कायिक (दैहिक) गतिविधियों को भी नियंत्रित कर व्यक्ति को अपने आप से जोड़ देती है। हमें एहसास होता है कि हमारा अस्तित्व चैत्तसिक और दैहिक गतिविधियों से भी ऊपर है और हम उनके केवल साक्षी हैं, अपितु नियामक भी हैं।

ध्यान-आत्मसाक्षात्कार की कला

मनुष्य के लिये, जो कुछ भी श्रेष्ठतम और कल्याणकारी है, वह स्वयं अपने को जानना और अपने में जीना है। आत्मबोध से महत्त्वपूर्ण एवं श्रेष्ठतम अन्य कोई बोध है ही नहीं। आत्मसाक्षात्कार या आत्मज्ञान भी साधना का सारतत्त्व है। साधना का अर्थ है अपने आप के प्रति जागना। वह 'कोऽहं' से 'सोऽहं' तक की यात्रा है। साधना की इस यात्रा में अपने आप के प्रति जागना सम्भव होता है। ध्यान में ज्ञाता अपनी ही वृत्तियों, भावनाओं, आवेगों और वासनाओं को ज्ञेय बनाकर वस्तुत: अपना ही दर्शन करता है। यद्यपि यह दर्शन तभी संभव होता है, जब हम इनका अतिक्रमण कर जाते हैं, अर्थात्, इनके प्रति कर्ताभाव से मुक्त होकर साक्षी भाव जगाते हैं। अत: ध्यान आत्मा के दर्शन की कला है। ध्यान ही वह विधि है, जिसके द्वारा हम सीधे अपने ही सम्मुख होते हैं, इसे ही आत्मसाक्षात्कार कहते हैं। ध्यान जीव में 'जिन' का, आत्मा से परमात्मा का दर्शन कराता है।

ध्यान की इस प्रक्रिया में आत्मा के द्वारा परमात्मा (शुद्धात्मा) के दर्शन के पूर्व सर्वप्रथम तो हमें अपने 'वासनात्मक स्व' (id) का साक्षात्कार होता है- दूसरे शब्दों में हम अपने ही विकारों और वासनाओं के प्रति जगाते हैं। जागरण के इस प्रथम चरण में हमें उनकी विद्रूपता का बोध होता है। हमें लगता है कि ये हमारे विकार भाव हैं- विभाव हैं, क्योंकि हममें ये 'पर' के निमित्त से होते हैं। यही विभाव दशा का बोध साधना का दूसरा चरण है। साधना के तीसरे चरण में साधक विभाग से रहित शुद्ध आत्मदशा की अनुभूति करता है- यही परमात्म दर्शन है, स्वभावदशा में रमण है। यहाँ यह विचारणीय है कि ध्यान इस आत्मदर्शन में कैसे सहायक होता है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान में शरीर को स्थिर रखकर आँख बन्द करनी होती है। जैसे ही आँख बन्द होती है-व्यक्ति का सम्बन्ध बाह्य जगत् से टूटकर अन्तर्जगत् से जुड़ता है, अन्तर का परिदृश्य सामने आता है, अब हमारी चेतना का विषय बाह्य वस्तुएँ न होकर मनोसृजनाएँ होती हैं। जब व्यक्ति इस मनोसृजनाओं (संकल्प-विकल्पों) का द्रष्टा बनता है, उसे एक ओर इनकी पर-निमित्तता (विभावरूपता) का बोध होता है तथा दूसरी ओर अपने साक्षी स्वरूप का बोध होता है। आत्म-अनात्म का विवेक या स्व-पर के भेद का ज्ञान होता है। कर्ता-भोक्ता भाव के विकल्प क्षीण होने लगते हैं। एक निर्विकल्प आत्म-दशा की अनुभूति होती है। दूसरे शब्दों में मन की भाग-दौड़ समाप्त हो जाती है। मनोसृजनाएँ या संकल्प-विकल्प विलीन होने लगते हैं। चेतना की सभी विकलताएँ समाप्त हो जाती हैं। मन आत्मा में विलीन हो जाता है। सहज-समाधि प्रकट होती है। इस प्रकार आकांक्षाओं, वासनाओं, संकल्प-विकल्पों एवं तनावों से मुक्त होने पर एक अपरिमित निरपेक्ष आनन्द की उपलब्धि होती है, आत्मा अपने चिदानन्द स्वरूप में लीन रहता है। इस प्रकार ध्यान आत्मा को परमात्मा या शुद्धात्मा से जोड़ता है। अत: वह आत्मसाक्षात्कार या परमात्मा के दर्शन की एक कला है।

ध्यान मुक्ति का अन्यतम कारण

जैन-धर्म में ध्यान मुक्ति का अन्म कारण माना जा सकता है जैन दार्शनिकों ने आध्यात्मिक विकास को जिन १४ सोपानों (गुणस्थानों) का उल्लेख किया है, उनमें अन्तिम गुणस्थान को अयोगी केवली गुणस्थान कहा गया है। अयोगी केवली गुणस्थान वह अवस्था है जिसमें वीतराग-आत्मा अपने काययोग, वचनयोग, मनोयोग अर्थात् शरीर, वाणी और मन की गतिविधियों का निरोध कर लेता है और उनके निरुद्ध होने पर वह मुक्ति या निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। यह प्रक्रिया सम्भव है शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण व्युपरत क्रिया निवृत्ति के द्वारा। अत: ध्यान मोक्ष का अन्यतम कारण है। जैन-परम्परा में ध्यान में स्थित होने के पूर्व जिन पदों का उच्चारण किया जाता है, वे निम्न हैं-

ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि[२३]

अर्थात् "मैं शरीर से स्थिर होकर, वाणी से मौन होकर, मन को ध्यान में नियोजित कर शरीर के प्रति ममत्व का परित्याग करता हूँ।" यहाँ हमें स्मरण रखना चाहिए कि 'अप्पाणं वोसिरामि' का अर्थ, आत्मा का विसर्जन करना नहीं है, अपितु देह के प्रति अपनेपन के भाव का विसर्जन करना है। क्योंकि विसर्जन या परित्याग आत्मा का नहीं अपनेपन के भाव अर्थात् ममत्वबुद्धि का होता है। जब कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो जाता है, तभी ध्यान की सिद्धि होती है और जब ध्यान सिद्ध हो जाता है तो आत्मा अयोगदशा अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अत: यह स्पष्ट है कि ध्यान मोक्ष का अन्यतम कारण है।

जैन-परम्परा में ध्यान आन्तरिक तप का एक प्रकार है। इस आन्तरिक तप को आत्मविशुद्धि का कारण माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है "आत्मा तप से परिशुद्ध होती है।[२४] सम्यक्-ज्ञान से वस्तु-स्वरूप का यथार्थ बोध होता है। सम्यग्दर्शन से तत्त्व-श्रद्धा उत्पन्न होती है। सम्यग्चारित्र आस्रव का निरोध करता है। किन्तु इन तीनों से भी मुक्ति सम्भव नहीं होती, मुक्ति का अन्तिम कारण तो निर्जरा है। सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा हो जाना ही मुक्ति है और कर्मों की तप से ही निर्जरा होती है। अत: ध्यान तप का एक विशिष्ट रूप है, जो आत्मशुद्धि का अन्यतम कारण है।

वैसे यह भी कहा जाता है कि आत्मा व्युपरत क्रिया-निवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान में आरूढ़ होकर ही मुक्ति को प्राप्त होता है। अत: हम यह कह सकते हैं कि जैन साधना-विधि में ध्यान मुक्ति का अन्तिम कारण है। ध्यान एक ऐसी अवस्था है जब आत्मा पूर्ण रूप से 'स्व' में स्थिति होती है और आत्मा का 'स्व' में स्थित होना ही मुक्ति या निर्वाण की अवस्था है। अत: ध्यान ही मुक्ति बन जाता है।

योग-दर्शन में ध्यान को समाधि का पूर्ण चरण माना गया है। उसमें भी ध्यान से ही समाधि की सिद्धि होती है। ध्यान जब अपनी पूर्णता पर पहुँचता है तो वही समाधि बन जाता है। ध्यान की इस निर्विकल्प दशा को न केवल जैन दर्शन में, अपितु सम्पूर्ण श्रमण-परम्परा में और न केवल सम्पूर्ण श्रमण-परम्परा में अपितु सभी धर्मों की साधन-विधियों में मुक्ति का अंतिम उपाय माना गया है।

योग चाहे चित्त-वृत्तियों के निरोध में निर्विकल्प समाधि हो या आत्मा को परमात्मा से जोड़ने की कला हो, वह ध्यान ही है।

ध्यान और समाधि

सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में समाधि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार कोष्ठागार में लगी हुई आग को शान्त करना आवश्यक है, उसी प्रकार मुनिजीवन के शीलव्रतों में लगी हुई वासना या आकांक्षारूपी अग्नि का प्रशमन करना भी आवश्यक है। यही समाधि है।[२५] धवला में आचार्य वीरसेन ने ज्ञान, दर्शन और चारित्र में सम्यक् अवस्थिति को ही समाधि कहा है।[२६] वस्तुत: चित्तवृत्ति का उद्वेलित होना ही असमाधि है और उसकी इस उद्विग्नता का समाप्त हो जाना ही समाधि है। उदाहरण के रूप में जब वायु के संयोग से जल तरंगायित होता है तो उस तरंगित जल में रही हुई वस्तुओं का बोध नहीं होता, उसी प्रकार तनावयुक्त उद्विग्न चित्त में आत्मा के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता है। चित्त की इस उद्विग्नता का या तनावयुक्त स्थिति का समाप्त होना ही समाधि है। ध्यान भी वस्तुत: चित्त की वह निष्प्रकम्प अवस्था है जिसमें आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप का साक्षी होता है। वह चित्त की समत्वपूर्ण स्थिति है। अत: ध्यान और समाधि समानार्थक हैं; फिर भी दोनों में एक सूक्ष्म अन्तर है। वह अन्तर इस रूप में है कि ध्यान समाधि का साधन है और समाधि साध्य है। योगदर्शन के अष्टांग योग में समाधि का पूर्व चरण ध्यान माना गया है। ध्यान जब सिद्ध हो जाता है, तब वह समाधि बन जाता है। वस्तुत: दोनों एक ही हैं।[२७] ध्यान की पूर्णता समाधि में है। यद्यपि दोनों में ही चित्तवृत्ति की निष्प्रकंपता या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समत्व की स्थिति आवश्यक है। एक में उस निष्प्रकम्पता या समत्व का अभ्यास होता है और दूसरे में वह अवस्था सहज हो जाती है।

ध्यान और योग

यहाँ ध्यान का योग से क्या संबंध है? यह भी विचारणीय है। जैन-परम्परा में सामान्यतया मन, वाणी और शरीर की गतिशीलता को योग कहा जाता है।[२८] उसके अनुसार सामान्य रूप से समग्र साधना और विशेष रूप से ध्यान-साधना का प्रयोजन योग-निरोध ही है। वस्तुत: मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रियाओं में जिन्हें जैन-परम्परा में योग कहा गया है, मन की प्रधानता होती है। वाचिक योग और कायिकयोग, मनोयोग पर ही निर्भर करते हैं। जब मन की चंचलता समाप्त होती है तो सहज ही शारीरिक और वाचिक-क्रियाओं में शैथिल्य आ जाता है, क्योंकि उनके मूल में व्यक्त या अव्यक्त मन ही है। अत: मन की सक्रियता के निरोध से ही योग-निरोध संभव है। योग-दर्शन भी, जो योग पर सर्वाधिक बल देता है, यह मानता है कि चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है।[२९] वस्तुत: जहाँ चित्त की चंचलता समाप्त होती है, वहीं साधना की पूर्णता है और वही पूर्णता ध्यान है। चित्त की चंचलता अथवा मन की भाग दौड़ को समाप्त करना ही जैन-साधना और योग-साधना दोनों का लक्ष्य है। इस दृष्टि से देखें तो जैन-दर्शन में ध्यान की जो परिभाषा दी जाती है वही परिभाषा योग-दर्शन में योग की दी जाती है। इस प्रकार ध्यान और योग पर्यायवाची बन जाते हैं।

'योग' शब्द का एक अर्थ जोड़ना (Unification) भी है।[३०] इस दृष्टि से आत्मा को परमात्मा से जोड़ने की कला को योग कहा गया है और इसी अर्थ से योग को मुक्ति का साधन माना गया है। अपने इस दूसरे अर्थ में भी योग शब्द ध्यान का समानार्थक ही सिद्ध होता है, क्योंकि ध्यान ही साधक को अपने में ही स्थित परमात्मा (शुद्धात्मा) या मुक्ति से जोड़ता है। वस्तुत: जब चित्तवृत्तियों की चंचलता समाप्त हो जाती है, चित्त प्रशान्त और निष्प्रकम्प हो जाता है, तो वही ध्यान होता है, वही समाधि होता है और उसे ही योग कहा जाता है। किन्तु जब कार्य-कारण भाव अथवा साध्य-साधना की दृष्टि से विचार करते हैं, तो ध्यान साधना होता है, समाधि साध्य होती है। साधन से साध्य की उपलब्धि ही योग कही जाती है।

ध्यान और कायोत्सर्ग

जैन-साधना में तप के वर्गीकरण में आभ्यन्तर तप के जो छ: प्रकार बतलाए गये हैं, उनमें ध्यान और कायोत्सर्ग इन दोनों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है।[३१] इसका तात्पर्य यह है कि जैन आचार्यों की दृष्टि से ध्यान और कायोत्सर्ग दो भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। ध्यान चेतना को किसी विषय पर केन्द्रित करने का अभ्यास है तो कायोत्सर्ग शरीर के नियन्त्रण का एक अभ्यास। यद्यपि यहाँ काया (शरीर) व्यापक अर्थ में गृहीत है। स्मरण रहे कि मन और वाक् ये शरीर के आश्रित ही हैं। शाब्दिक दृष्टि से कायोत्सर्ग शब्द का अर्थ होता है 'काया' का उत्सर्ग अर्थात देह-त्याग। लेकिन जब तक जीवन है तब तक शरीर का त्याग तो संभव नहीं है। अत: कायोत्सर्ग का मतलब है- देह के प्रति ममत्व का त्याग, दूसरे शब्दों में शारीरिक गतिविधियों का कर्ता न बनकर द्रष्टा बन जाना। वह शरीर की मात्र ऐच्छिक गतिविधियों का नियन्त्रण है। शारीरिक गतिविधियाँ भी दो प्रकार ही होती हैं-एक स्वचालित और दूसरी ऐच्छिक। कायोत्सर्ग में स्वचालित गतिविधियों का नहीं, अपितु ऐच्छिक गतिविधियों का नियन्त्रण किया जाता है। कायोत्सर्ग करने से पूर्व जो आगारसूत्र का पाठ बोला जाता है उसमें श्वसन-प्रक्रिया, छींक, जम्हाई आदि स्वचालित शारीरिक गतिविधियों का निरोध नहीं करने का भी स्पष्ट उल्लेख है।[३२] अत: कायोत्सर्ग ऐच्छिक शारीरिक गतविधियों के निरोध का प्रयत्न है। यद्यपि ऐच्छिक गतिविधियों का केन्द्र मानवीय मन अथवा चेतना ही है। अत: कायोत्सर्ग की प्रक्रिया ध्यान की प्रक्रिया के साथ अपरिहार्य रूप से जुड़ी हुई है।

एक अन्य दृष्टि से कायोत्सर्ग को देह के प्रति निर्ममत्व की साधना भी कहा जा सकता है। वह देह में रहकर भी कर्ताभाव से ऊपर उठकर द्रष्टाभाव में स्थित होना है। यह भी स्पष्ट है कि चित्तवृत्तियों के विचलन में शरीर भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। हम शरीर और इन्द्रियों के माध्यम से ही बाह्य विषयों से जुड़ते हैं और उनकी अनुभूति करते हैं इस अनुभूति का अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव हमारी चित्तवृत्ति पर पड़ता है, जो चित्त विचलन का या राग-द्वेष का कारण होता है।

चित्त (मन) और ध्यान

जैन-दर्शन में मन की चार अवस्थाएँ- जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में चित्त या मन ध्यान-साधना की आधारभूमि है, अत: चित्त की विभिन्न अवस्थाओं पर व्यक्ति के ध्यान-साधना के विकास को आँका जा सकता है। जैन-परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र ने मन की चार अवस्थाएँ मानी हैं- १. विक्षिप्त मन, २. यातायात मन, ३. श्लिष्ट मन और ४. सुलीन मन।[३३]

१. **विक्षिप्त मन**- यह मन की अस्थिर अवस्था है, इसमें चित्त चंचल होता है, इधर-उधर भटकता रहता है, इसके आलम्बन प्रमुखतया बाह्य विषय ही होते हैं, इसमें संकल्प-विकल्प या विचारों की भाग-दौड़ मची रहती है, अत: इस अवस्था में मानसिक शान्ति का अभाव होता है। यह चित्त पूरी तरह बहिर्मुखी होती है।

२. **यातायात मन**- यातायात मन कभी बाह्य विषयों की ओर जाता है तो कभी अपने में स्थिर होने का प्रयत्न करता है। यह योगाभ्यास के प्रारम्भ की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त अपने पूर्वाभ्यास के कारण बाहरी विषयों की ओर दौड़ता रहता है, वैसे थोड़े बहुत प्रयत्न से उसे स्थिर कर लिया जाता है। कुछ समय उस पर स्थिर रहकर पुन: बाह्य विषयों के संकल्प-विकल्प में उलझ जाता है। जब-जब कुछ स्थिर होता है तब मानसिक शान्ति एवं आनन्द का अनुभव करने लगता है। यातायात चित्त कथंचित् अन्तर्मुखी और कथंचित् बहिर्मुखी होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. **श्लिष्ट मन**- यह मन की स्थिरता की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त की स्थिरता का आधार या आलम्बन विषय होता है। इसमें जैसे-जैसे स्थिरता आती है, आनन्द भी बढ़ता जाता है।

४. **सुलीन मन**- यह मन की वह अवस्था है जिसमें संकल्प-विकल्प एवं मानसिक वृत्तियों का लय हो जाता है। इसको मन की निरुद्धावस्था भी कहा जा सकता है। यह परमानन्द है, क्योंकि इसमें सभी वासनाओं का विलय हो जाता है।

बौद्ध-दर्शन में चित्त की चार अवस्थाएँ- अभिधम्मत्थसंगहो के अनुसार बौद्ध-दर्शन में भी चित्त (मन) चार प्रकार का है- १. कामावचर, २. रूपावचर, ३. अरूपावचर और ४. लोकोत्तर।[३४]

१. **कामावचर चित्त**- यह चित्त की वह अवस्था है जिसमें कामनाओं और वासनाओं का प्राधान्य होता है। इसमें वितर्क एवं विचारों की अधिकता होती है। मन सांसारिक भोगों के पीछे भटकता रहता है।

२. **रूपावचर चित्त**- इस अवस्था में वितर्क-विचार तो होते हैं, लेकिन एकाग्रता का प्रयत्न भी होता है। चित्त का आलम्बन बाह्य स्थूल विषय ही होते हैं। यह योगाभ्यासी चित्त की प्राथमिक अवस्था है।

३. **अरूपावचर चित्त**- इस अवस्था में चित्त का आलम्बन रूपवान बाह्य पदार्थ नहीं है। इस स्तर पर चित्त की वृत्तियों में स्थिरता होती है लेकिन उसकी एकाग्रता निर्विषय नहीं होती। उसके विषय अत्यन्त सूक्ष्म जैसे अनन्त आकाश, अनन्त विज्ञान या अकिंचनता होते हैं।

४. **लोकोत्तर चित्त**- इस अवस्था में वासना-संस्कार, राग-द्वेष एवं मोह का प्रहाण हो जाता है। चित्त विकल्पशून्य हो जाता है। इस अवस्था की प्राप्ति कर लेने पर निश्चित रूप से अर्हत् पद एवं निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

योग-दर्शन में चित्त की पाँच अवस्थाएँ- योगदर्शन में चित्तभूमि (मानसिक अवस्था) के पाँच प्रकार हैं। १. क्षिप्त, २. मूढ़, ३. विक्षिप्त, ४. एकाग्र और ५. निरुद्ध।[३५]

१. **क्षिप्त चित्त**- इस अवस्था में चित्त रजोगुण के प्रभाव में रहता है और एक विषय से दूसरे विषय पर दौड़ता रहता है। स्थिरता नहीं रहती है। यह अवस्था योग के अनुकूल नहीं है क्योंकि इसमें मन और इन्द्रियों पर संयम नहीं रहता।

२. **मूढ़ चित्त**- इस अवस्था में तन की प्रधानता रहती है और इसमें निद्रा, आलस्य आदि का प्रादुर्भाव होता है। निद्रावस्था में चित्त की वृत्तियों का कुछ काल के लिए तिरोभाव हो जाता है, परन्तु यह अवस्था योगावस्था नहीं है, क्योंकि इसमें आत्मा साक्षी भाव में नहीं होता है।

३. **विक्षिप्त चित्त**- विक्षिप्तावस्था में मन थोड़ी देर के लिए एक विषय पर लगता है, पर तुरन्त ही अन्य विषय की ओर दौड़ जाता है और पहला विषय छूट जाता है। यह चित्त की आंशिक स्थिरता की अवस्था है।

४. **एकाग्र चित्त**- यह वह अवस्था है, जिसमें चित्त देर तक एक विषय पर लगा रहता है। यह किसी वस्तु पर मानसिक केन्द्रीकरण या ध्यान की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त किसी विषय पर विचार या ध्यान करता रहता है। इसलिए इसमें भी सभी चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता, तथापि यह योग की पहली सीढ़ी है।

५. **निरुद्ध चित्त**- इस अवस्था में चित्त की सभी वृत्तियों का (ध्येय विषय तक का भी) लोप हो जाता है और चित्त अपनी स्वाभाविक स्थिर शांत अवस्था में आ जाता है।

जैन, बौद्ध और योग दर्शन में मन की इन विभिन्न अवस्थाओं के नामों में चाहे अन्तर हो, लेकिन उनके मूलभूत दृष्टिकोण में कोई अन्तर नहीं है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है।

जैन-दर्शन	बौद्ध-दर्शन	योग-दर्शन
विक्षिप्त	कामावचर	क्षिप्त एवं मूढ़
यातायात	रूपावचर	विक्षिप्त
श्लिष्ट	अरूपावचर	एकाग्र
सुलीन	लोकोत्तर	निरुद्ध

जैन-दर्शन का विक्षिप्त मन, बौद्ध दर्शन का कामावचर चित्त और योगदर्शन के क्षिप्त और मूढ़ चित्त समानार्थक हैं, क्योंकि सभी के अनुसार इस अवस्था में चित्त में वासनाओं एवं कामनाओं की बहुलता होती है। इसी प्रकार जैन-दर्शन का यातायात मन, बौद्ध-दर्शन का रूपावचर चित्त और योग-दर्शन का विक्षिप्त चित्त भी समानार्थक हैं, सामान्यतया सभी के अनुसार इस अवस्था में चित्त में अल्पकालिक स्थिरता होती है तथा वासनाओं के वेग में थोड़ी कमी अवश्य हो जाती है। इसी प्रकार जैन-दर्शन का श्लिष्ट मन, बौद्ध-दर्शन का अरूपावचर चित्त और योग-दर्शन का एकाग्रचित भी समान ही है। सभी ने इसको मन की स्थिरता की अवस्था कहा है। चित्त की अन्तिम अवस्था जिसे जैन-दर्शन में सुलीन मन, बौद्ध-दर्शन में लोकोत्तर चित्त और योग-दर्शन में निरुद्ध चित्त कहा गया है, समान अर्थ के द्योतक हैं। इसमें वासना, संस्कार एवं संकल्प-विकल्प का पूर्ण अभाव हो जाता है। ध्यान-साधना का लक्ष्य चित्त की इस वासना-संस्कार एवं संकल्प-विकल्प से रहित अवस्था को प्राप्त करना है। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि क्रम से अभ्यास बढ़ाते हुए अर्थात् विक्षिप्त से यातायात चित्त का, यातायात से श्लिष्ट का और श्लिष्ट से सुलीन चित्त का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह अभ्यास करने से निरालम्बन ध्यान होने लगता है। निरालम्बन ध्यान से समत्व प्राप्त करके परमानन्द का अनुभव करना चाहिए। योगी को चाहिए कि वह बहिरात्मभाव का त्याग करके अन्तरात्मा के साथ सामीप्य स्थापित करे और परमात्ममय बनने के लिए निरन्तर परमात्मा का ध्यान करे।[३६]

इस प्रकार चित्त-वृत्तियों या वासनाओं का विलयन ही समालोच्य ध्याान परम्पराअें का प्रमुख लक्ष्य रहा है, क्योंकि वासनाओं द्वारा ही मन क्षोभित होता है, जिससे चेतना का समत्व भंग होता है। ध्यान इसी समत्व या समाधि को प्राप्त करने की साधना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान का सामान्य अर्थ

'ध्यान' शब्द का सामान्य अर्थ चेतना का किसी एक विषय या बिन्दु पर केन्द्रित होना है।[३७] चेतना जिस विषय पर केन्द्रित होती है वह प्रशस्त या अप्रशस्त दोनों ही हो सकता है। इसी आधार पर ध्यान के दो रूप निर्धारित हुए- १. प्रशस्त और २. अप्रशस्त। उसमें भी अप्रशस्त ध्यान के पुन: दो रूप माने गये १. आर्त और ३. रौद्र। प्रशस्त ध्यान के भी दो रूप माने गये १. धर्म और २. शुक्ल। जब चेतना राग या आसक्ति में डूब कर किसी वस्तु और उसकी उपलब्धि की आशा पर केन्द्रित होती है तो उसे आर्तध्यान कहा जा सकता है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की आकांक्षा या प्राप्त वस्तु के वियोग की संभावना की चिन्ता में चित्त का डूबना आर्तध्यान है।[३८] आर्तध्यान चित्त के अवसाद/विषाद की अवस्था है।

जब कोई उपलब्ध अनुकूल विषयों के वियोग का या अप्राप्त अनुकूल विषयों की उपलब्धि में अवरोध का निमित्त बनता है तो उस पर आक्रोश का जो स्थायीभाव होता है, वही रौद्रध्यान है।[३९] इस प्रकार आर्तध्यान रागमूलक होता है और रौद्रध्यान द्वेषमूलक होता है। राग-द्वेष के निमित्त से उत्पन्न होने के कारण ये दोनों ध्यान संसार के जनक हैं, अत: अप्रशस्त माने गये हैं। इनके विपरीत धर्म-ध्यान और शुक्लध्यान प्रशस्त माने गये हैं। मेरी दृष्टि में स्व-पर के लिये कल्याणकारी विषयों पर चित्तवृत्ति का स्थिर होना धर्मध्यान है। यह लोकमंगल और आत्मविशुद्धि का साधक होता है। चूँकि धर्म ध्यान में भोक्ताभाव होता है, अत: यह शुभ आस्रव का कारण होता है। जब आत्मा की चित्त-वृत्तियाँ साक्षीभाव या ज्ञाता द्रष्टा भाव में अवस्थित होती हैं, तब साधक न तो कर्ताभाव से जुड़ता है और न भोक्ताभाव से जुड़ता है, यही साक्षीभाव की अवस्था ही शुक्ल ध्यान है। इसमें चित्त शुभ-अशुभ दोनों से ऊपर उठ जाता है।

'ध्यान' शब्द की जैन-परिभाषाएँ

सामान्यतया अध्यवसायों (चित्तवृत्ति) का स्थिर होना ही ध्यान कहा गया है। दूसरे शब्दों में मन की एकाग्रता को प्राप्त होना ही ध्यान है। इसके विपरीत जो मन चंचल है उसे भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता कहा जाता है।[४०] इस प्रकार ध्यान वह स्थिति है जिसमें चित्त की चंचलता समाप्त हो जाती है और वह किसी एक विषय पर केन्द्रित हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि अनेक अर्थों का आलम्बन देने वाली चिन्ता का निरोध ध्यान है'।[४१] दूसरे शब्दों में जब चिन्तन को अन्यान्य विषयों से हटा कर किसी एक ही वस्तु पर केन्द्रित कर दिया जाता है तो वह ध्यान बन जाता है। यद्यपि भगवती-आराधना में एक ओर चिन्ता-निरोध से उत्पन्न एकाग्रता को ध्यान कहा गया है, तो दूसरी ओर उसमें राग-द्वेष और मिथ्यात्व से रहित होकर पदार्थ की यथार्थता को ग्रहण करने वाला जो विषयान्तर के संचार से रहित ज्ञान होता है, उसे ध्यान कहा गया है।[४२] आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय में ध्यान को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण और अन्य द्रव्य के संसर्ग से रहित चेतना की जो अवस्था है, वह ध्यान है।[४३] इस गाथा में पण्डित बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री ने "दंसणणाणसमग्गं" का अर्थ सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से परिपूर्ण किया है, किन्तु मेरी दृष्टि में यह अर्थ उचित नहीं है। दर्शन और ज्ञान की समग्र (समग्गं) का अर्थ है ज्ञान का भी निर्विकल्प अवस्था में होना। सामान्यतया ज्ञान विकल्पात्मक होता है और दर्शन निर्विकल्प। किन्तु जब ज्ञान चित्त की विकल्पता से रहित होकर दर्शन से अभिन्न हो जाता है, तो वही ध्यान हो जाता है। इसीलिए अन्यत्र कहा भी है कि ज्ञान से ही ध्यान की सिद्धि होती है।[४४] ध्यान शब्द की इन परिभाषाओं में हमें स्पष्ट रूप से एक विकासक्रम परिलक्षित होता है। फिर भी मूल रूप में ये परिभाषाएँ एक दूसरे की विरोधी नहीं हैं। चित्त का विधि- विकल्पों से रहित होकर एक विकल्प पर स्थिर हो जाना और अन्त में निर्विकल्प हो जाना ही ध्यान है क्योंकि ध्यान की अन्तिम अवस्था में सभी विकल्प समाप्त हो जाते हैं।

ध्यान का क्षेत्र

ध्यान-साधना के दो प्रकार माने गये हैं- एक बहिरंग और दूसरा अन्तरंग। ध्यान के बहिरंग साधनों में ध्यान के योग्य स्थान (क्षेत्र), आसन, काल आदि का विचार किया जाता है और अन्तरंग साधनों में ध्येय विषय और ध्याता के संबंध में यह विचार किया जाता है कि ध्यान के योग्य क्षेत्र कौन से हो सकते हैं। आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं कि 'जो स्थान निकृष्ट स्वभाव वाले लोगों से सेवित हो, दुष्ट राजा से शासित हो, पाखण्डियों के समूह से व्याप्त हो, जुआरियों, मद्यपियों और व्यभिचारियों से युक्त हो, जहाँ का वातवरण अशान्त हो, जहाँ सेना का संचार हो रहा हो, गीत वादन आदि के स्वर गूँज रहे हों, जहाँ जन्तुओं तथा नपुंसक आदि निकृष्ट प्रकृति के जनों का विचरण हो, वह स्थान ध्यान के योग्य नहीं है। इस प्रकार काँटे, पत्थर, कीचड़, हड्डी, रुधिर आदि से दूषित तथा कौवे, उल्लू, शृगाल, कुत्तों आदि से सेवित स्थान भी ध्यान के योग्य नहीं होते हैं।[४५]

यह बात स्पष्ट है कि परिवेश का प्रभाव हमारी चित्तवृत्तियों पर पड़ता है। धर्म-स्थलों एवं नीरव साधना-क्षेत्रों आदि में जो निराकुलता होती है तथा उनमें जो एक विशिष्ट प्रकार की शान्ति होती है, वह ध्यान-साधना के लिए उपयुक्त होती है। अत: ध्यान करते समय साधक को क्षेत्र का विचार करना आवश्यक है। संयमी साधक को समुद्र-तट, नदी-तट, अथवा सरोवर के तट, पर्वत-शिखर अथवा गुफा किंवा प्राकृतिक दृष्टि से नीरव और सुन्दर प्रदेशों को अथवा जिनालय आदि धर्म-स्थानों को ही ध्यान के क्षेत्र रूप में चुनना चाहिए। ध्यान की दिशा के संबंध में विचार करते हुए कहा गया है कि ध्यान के लिए पूर्व या उत्तर दिशा में अभिमुख होकर बैठना चाहिये।

ध्यान के आसन

ध्यान के आसनों को लेकर भी जैन-ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से विचार हुआ है। सामान्य रूप से पद्मासन, पर्यंकासन एवं खड्गासन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान के उत्तम आसन माने गये हैं। ध्यान के आसनों के संबंध में जैन आचार्यों की मूलदृष्टि यह है कि जिन आसनों से शरीर और मन पर तनाव नहीं पड़ता हो ऐसे सुखासन ही ध्यान के योग्य आसन माने जा सकते हैं। जिन आसनों का अभ्यास साधक ने कर रखा हो और जिन आसनों में वह अधिक समय पर सुखपूर्वक बैठ सकता हो तथा जिनके कारण उसका शरीर स्वेद को प्राप्त नहीं होता हो, वे ही आसन ध्यान के लिए श्रेष्ठ आसन हैं।[४६] सामान्यतया जैन-परम्परा में पद्मासन और खड्गासन ही ध्यान के अधिक प्रचलित आसन रहे हैं।[४७] किन्तु महावीर के द्वारा गोदुहासन में ध्यान करके केवलज्ञान प्राप्त करने के भी उल्लेख हैं।[४८] समाधिमरण या शारीरिक अशक्ति की स्थिति में लेटे-लेटे भी ध्यान किया जा सकता है।

ध्यान का काल

सामान्यतया सभी कालों में शुभ भाव संभव होने से ध्यान-साधना का कोई विशिष्ट काल नहीं कहा गया है। किन्तु जहाँ तक मुनि समाचारी का प्रश्न है, उत्तराध्ययन में सामान्य रूप से मध्याह्न और मध्यरात्रि को ध्यान के लिए उपयुक्त समय बताया गया है।[४९] उपासकदशांग में सकडाल-पुत्र के द्वारा मध्याह्न में ध्यान करने का निर्देश है।[५०] कहीं-कहीं प्रात:काल और सन्ध्याकाल में भी ध्यान करने का विधान मिलता है।

ध्यान की समयावधि

जैन आचार्यों ने इस प्रश्न पर भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है कि किसी व्यक्ति की चित्त वृत्ति अधिकतम कितने समय तक एक विषय पर स्थिर रह सकती है। इस संबंध में उनका निष्कर्ष यह है कि किसी एक विषय पर अखण्डित रूप से चित्तवृत्ति अन्तर्मुहूर्त से अधिक स्थिर नहीं रह सकती। अन्तर्मुहूर्त से उनका तात्पर्य एक क्षण से कुछ अधिक तथा ४८ मिनट से कुछ कम है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ध्यान अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय तक नहीं किया जा सकता है। यह सत्य है कि इतने काल के पश्चात् ध्यान खण्डित होता है, किन्तु चित्तवृत्ति को पुन: नियोजित करके ध्यान को एक प्रहर या रात्रिपर्यंत भी किया जा सकता है।

ध्यान और शरीर-रचना

जैन आचार्यों ने ध्यान का संबंध शरीर से भी जोड़ा है। यह अनुभूत तथ्य है कि सबल, स्वस्थ और सुगठित शरीर ही ध्यान के लिए अधिक योग्य होता है। यदि शरीर निर्बल है, सुगठित नहीं है तो शारीरिक गतिविधियों को अधिक समय तक नियन्त्रित नहीं किया जा सकता और यदि शारीरिक गतिविधियाँ नियंत्रित नहीं रहेंगी तो चित्त भी नियन्त्रित नहीं रहेगा। शरीर और चित्तवृत्तियों में एक गहरा संबंध है। शारीरिक विकलताएँ चित्त को विकल बना देती हैं और चैत्तसिक विकलताएँ शरीर को। अत: यह माना गया है कि ध्यान के लिए सबल, नीरोग और सुगठित शरीर आवश्यक है। तत्त्वार्थसूत्र में तो ध्यान की परिभाषा देते हुए स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि उत्तमसंहनन वाले का एक विषय में अंत:करण की वृत्ति का नियोजन ध्यान है।[५१] जैन आचार्य यह मानते हैं कि छ: प्रकार की शारीरिक संरचना में से वज्रऋषभनाराच, अर्धवज्रऋषभनाराच, नाराच और अर्धनाराच- ये चार शारीरिक संरचनाएँ ही (संहनन) ध्यान के योग्य होती हैं।[५२] यद्यपि हमें यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि शारीरिक संरचना का सह-संबंध मुख्य रूप से प्रशस्त ध्यानों से ही है, अप्रशस्त ध्यानों से नहीं। यह सत्य है कि शरीर चित्तवृत्ति की अस्थिरता का मुख्य कारण होता है। अत: ध्यान की वे स्थितियाँ जिनका विषय प्रशस्त होता है और जिनके लिए चित्तवृत्ति की अधिक समय तक स्थिरता आवश्यक होती है, वे केवल सबल शरीर में ही सम्भव होती हैं। किन्तु अप्रशस्त आर्त, रौद्र आदि ध्यान तो निर्बल शरीरवालों को ही अधिक होते हैं। अशक्त या दुर्बल व्यक्ति ही अधिक चिन्तित एवं चिड़चिड़ा होता है।

ध्यान किसका?

ध्यान के संदर्भ में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि ध्यान किसका किया जाये? दूसरे शब्दों में ध्येय या ध्यान का आलम्बन क्या है? सामान्य दृष्टि से विचार करने पर तो किसी भी वस्तु या विषय को ध्येय/ध्यान के आलम्बन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि सभी वस्तुओं या विषयों में कमोबेश ध्यानकर्षण की क्षमता तो होती ही है। चाहे संसार के सभी विषय ध्यान के आलम्बन होने की पात्रता रखते हों, किन्तु उन सभी को ध्यान का आलम्बन नहीं बनाया जा सकता है। व्यक्ति के प्रयोजन के आधार पर ही उनमें से कोई एक विषय ही ध्यान का आलम्बन बनता है। अत: ध्यान के आलम्बन का निर्धारण करते समय यह विचार करना आवश्यक होता है कि ध्यान का उद्देश्य या प्रयोजन क्या है? दूसरे शब्दों में ध्यान हम किसलिए करना चाहते हैं? इसका निर्धारण सर्वप्रथम आवश्यक होता है। वैसे तो संसार के सभी विषय चित्त को केन्द्रित करने का सामर्थ्य रखते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बिना किसी पूर्व विचार के उन्हें ध्यान का आलम्बन अथवा ध्येय बनाया जाये। किसी स्त्री का सुन्दर शरीर ध्यानाकर्षण या ध्यान का आलम्बन होने की योग्यता तो रखता है, किन्तु जो साधक ध्यान के माध्यम से विक्षोभ या तनावमुक्त होना चाहता है, उसके लिए यह उचित नहीं होगा कि वह स्त्री के सुन्दर शरीर को अपने ध्यान का विषय बनाये, क्योंकि उसे ध्यान का विषय बनाने से उसके मन में उसके प्रति रागात्मकता उत्पन्न होगी, वासना जागेगी और पाने की आकांक्षा या भोग की आकांक्षा से चित्त में विक्षोभ पैदा होगा। अत: किसी भी वस्तु को ध्यान का आलम्बन बनाने के पूर्व यह विचार करना आवश्यक होता है कि हमारे ध्यान का प्रयोजन या उद्देश्य क्या है? जो व्यक्ति अपनी वासनाओं का पोषण चाहता है, वही स्त्री-शरीर के सौन्दर्य को अपने ध्यान का आलम्बन बनाता है और उसके माध्यम से आर्तध्यान का भागीदार बनता है। किन्तु जो भोग के स्थान पर त्याग और वैराग्य को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने जीवन का लक्ष्य बनाना चाहता है, जो समाधि का इच्छुक है, उसके लिए स्त्री-शरीर की वीभत्सता और विद्रूपता ही ध्यान का आलम्बन होगी। अत: ध्यान के प्रयोजन के आधार पर ही ध्येय का निर्धारण करना होता है। पुन: ध्यान की प्रशस्तता और अप्रशस्तता भी उसके ध्येय या आलम्बन पर आधारित होती है, अत: प्रशस्त ध्यान के साधक अप्रशस्त विषयों को अपने ध्यान का आलम्बन या ध्येय नहीं बनाते हैं।

जैन दार्शनिकों की दृष्टि में प्राथमिक स्तर पर ध्यान के लिए किसी ध्येय या आलम्बन का होना आवश्यक है, क्योंकि बिना आलम्बन के चित्त की वृत्तियों को केन्द्रित करना सम्भव नहीं होता है, वे सभी विषय और वस्तुएँ जिनमें व्यक्ति का मन रम जाता है, ध्यान का आलम्बन बनने की योग्यता तो रखती हैं, किन्तु उनमें से किसी एक को अपने ध्यान का आलम्बन बनाते समय व्यक्ति को यह विचार करना होता है कि उससे वह राग की ओर जायेगा या विराग की ओर, उसके चित्त में वासना और विक्षोभ जागेंगे या समाधि सधेगी। यदि साधक का उद्देश्य ध्यान के माध्यम से चित्त-विक्षोभों को दूर करके समाधिलाभ या समताभाव को प्राप्त करना है तो उसे प्रशस्त विषयों को ही अपने ध्यान का आलम्बन बनाना होगा। प्रशस्त आलम्बन ही व्यक्ति को प्रशस्त ध्यान की दिशा की ओर ले जाता है।

ध्यान के आलम्बन के प्रशस्त विषयों में परमात्मा या ईश्वर का स्थान सर्वोपरि माना गया है। जैन दार्शनिकों ने भी ध्यान के आलम्बन के रूप में वीतराग परमात्मा को ध्येय के रूप में स्वीकार किया है।[५३] चाहे ध्यान पदस्थ हो या पिण्डस्थ, रूपस्थ हो या रूपातीत; ध्येय तो परमात्मा ही है, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जैन-धर्म में आत्मा और परमात्मा भिन्न नहीं है। आत्मा की शुद्धदशा ही परमात्मा है।[५४] इसलिए जैन-दर्शन में ध्याता और ध्येय अभिन्न हैं। साधक आत्मा ध्यान-साधना में अपने ही शुद्ध स्वरूप को ध्येय बनाता है। आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा का ही ध्यान करता है।[५५] जिस परमात्मास्वरूप को ध्याता ध्येय के रूप में स्वीकार करता है वह उसका अपना ही शुद्ध स्वरूप है।[५६] पुन: ध्यान में जो ध्येय बनता है वह वस्तु नहीं, चित्त की वृत्ति होती है, ध्यान में चित्त ही ध्येय का आकार ग्रहण करके हमारे सामने उपस्थित होता है, अत: ध्याता भी चित्त है और ध्येय भी चित्त है। जिसे हम ध्येय कहते हैं, वह हमारा अपना ही निज रूप है, हमारा अपना ही प्रोजेक्शन (Projection) है। ध्यान वह कला है जिसमें ध्याता अपने को ही ध्येय बनाकर स्वयं उसका साक्षी बनता है। हमारी वृत्तियाँ ही हमारे ध्यान का आलम्बन होती हैं और उनके माध्यम से हम अपना ही दर्शन करते हैं।

ध्यान के अधिकारी

ध्यान को व्यापक अर्थों में ग्रहण करने पर सभी व्यक्ति ध्यान के अधिकारी माने जा सकते हैं, क्योंकि जैन-दर्शन के अनुसार आर्त और रौद्र ध्यान तो निम्नतम प्राणियों में भी पाया जाता है। अपने व्यापक अर्थ में ध्यान में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों ही प्रकार के ध्यानों का समावेश होता है। अत: हमें यह मानना होता है कि इन अप्रशस्त ध्यानों की पात्रता तो आध्यात्मिक दृष्टि से अपूर्ण रूप से विकसित सभी प्राणियों में किसी न किसी रूप में रहती ही है। नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि सभी में आर्तध्यान और रौद्रध्यान पाये जाते हैं। किन्तु जब हम ध्यान का तात्पर्य केवल प्रशस्त ध्यान अर्थात् धर्मध्यान और शुक्लध्यान से लेते हैं तो हमें यह मानना होगा कि इन ध्यानों के अधिकारी सभी प्राणी नहीं हैं। उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में किस ध्यान का कौन अधिकारी है इसका उल्लेख किया है।[५७] इसकी विशेष चर्चा हमने ध्यान के प्रकारों के प्रसंग में की है। साधारणतया चतुर्थ गुणस्थान अर्थात् सम्यक्दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् ही व्यक्ति धर्मध्यान का अधिकारी बनता है। धर्मध्यान की पात्रता केवल सम्यग्दृष्टि जीवों को ही है। आर्त और रौद्र ध्यान का परित्याग करके अपने को प्रशस्त चिन्तन से जोड़ने की सम्भावना केवल उसी व्यक्ति में हो सकती है, जिसका विवेक जाग्रत हो और जो हेय, ज्ञेय और उपादेय के भेद को समझता हो। जिस व्यक्ति में हेय-उपादेय अथवा हित-अहित के बोध का ही सामर्थ्य नहीं है, वह धर्मध्यान में अपने चित्त को केन्द्रित नहीं कर सकता।

यह भी स्मरणीय है कि आर्त और रौद्र ध्यान पूर्व संस्कारों के कारण व्यक्ति में सहज होते हैं, उनके लिए व्यक्ति को विशेष प्रयत्न या साधना नहीं करनी होती, जबकि धर्मध्यान के लिए साधना (अभ्यास) आवश्यक है। इसीलिए धर्मध्यान केवल सम्यग्दृष्टि को ही हो सकता है। धर्मध्यान की साधना के लिए व्यक्ति में ज्ञान के साथ-साथ वैराग्य/विरति भी आवश्यक मानी गई है और इसलिए कुछ लोगों का यह मानना है कि धर्मध्यान पाँचवें गुणस्थान अर्थात् देशव्रती को ही संभव है। अत: स्पष्ट है कि जहाँ आर्त और रौद्रध्यान के स्वामी सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार के जीव हो सकते हैं, वहाँ धर्मध्यान का अधिकारी सम्यग्दृष्टि श्रावक और विशेषरूप से देशविरत श्रावक या मुनि ही हो सकता है। जहाँ तक शुक्लध्यान का प्रश्न है, वह सातवें गुणस्थान के अप्रमत्त जीवों से लेकर १४ वें अयोगी केवली गुणस्थान तक के सभी व्यक्तियों में सम्भव है। इस संबंध में श्वेताम्बर-दिगम्बर के मतभेदों की चर्चा ध्यान के प्रकारों के प्रसंग में आगे की गयी है।

इस प्रकार ध्यान-साधना के अधिकारी व्यक्ति भिन्न-भिन्न ध्यानों की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न कहे गये हैं। जो व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से जितना विकसित होता है वह ध्यान के क्षेत्र में उतना ही आगे बढ़ सकता है। अत: व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास उसकी ध्यान-साधना से जुड़ा हुआ है। आध्यात्मिक साधना और ध्यान-साधना में विकास का क्रम अन्योन्याश्रित है। जैसे-जैसे व्यक्ति प्रशस्त की दिशा में अग्रसर होता है उसका आध्यात्मिक विकास होता है और जैसे-जैसे उसका आध्यात्मिक विकास होता है, वह प्रशस्त ध्यानों की ओर अग्रसर होता है।

ध्यान का साधक गृहस्थ या श्रमण?

ध्यान की क्षमता त्यागी और भोगी दोनों में समान रूप से होती है, किन्तु अक्सर भोगी जिस विषय पर अपना ध्यान केन्द्रित करता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है वह विषय अन्त में उसके मन को प्रमथित करके उद्वेलित ही बनाता है। अत: उसके ध्यान में यद्यपि कुछ काल तक चित्त तो स्थिर रहता है, किन्तु उसका फल चित्तवृत्तियों की स्थिरता न होकर अस्थिरता ही होती है। जिस ध्यान के अन्त में चित्त उद्वेलित होता हो वह ध्यान साधनात्मक ध्यान की कोटि में नहीं आता है। यही कारण है कि परवर्ती जैन दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों में आर्तध्यान और रौद्रध्यान को ध्यान के रूप में परिगणित ही नहीं किया, क्योंकि वे अन्ततोगत्वा चित्त की उद्विग्नता के ही कारण बनते हैं। यही कारण था कि दिगम्बर-परम्परा ने यह मान लिया कि गृहस्थ का जीवन वासनाओं, आकांक्षाओं और उद्विग्नताओं से परिपूर्ण है, अत: वे ध्यान- साधना करने में असमर्थ हैं।

ज्ञानार्णव में इस मत का प्रतिपादन हुआ है कि गृहस्थ ध्यान का अधिकारी नहीं है।[५८] इस संबंध में उसका कथन है कि गृहस्थ प्रमाद को जीतने में समर्थ नहीं होता, इसलिए वह अपने चंचल मन को वश में नहीं रख पाता। फलत: वह ध्यान का अधिकारी नहीं हो सकता। ज्ञानार्णवकार का कथन है कि गृहस्थ का मन सैंकड़ों झंझटों से व्यथित तथा दुष्ट तृष्णा रूप पिशाच से पीड़ित रहता है, इसलिए उसमें रहकर व्यक्ति ध्यान आदि की साधना नहीं कर सकता। जब प्रलयकालीन तीक्ष्ण वायु के द्वारा स्थिर स्वभाववाले बड़े-बड़े पर्वत भी स्थान भ्रष्ट कर दिये जाते हैं, तो फिर स्त्री-पुत्र आदि के बीच रहने वाले गृहस्थ को जो स्वभाव से ही चंचल है, क्यों नहीं भ्रष्ट किया जा सकता।[५९] इस चर्चा को आगे बढ़ाते हुए ज्ञानार्णवकार तो यहाँ तक कहता है कि कदाचित् आकाश-कुसुम और गधे को सींग (श्रृंग) संभव भी हों[६०] लेकिन गृहस्थ जीवन में किसी भी देश और काल में ध्यान संभव नहीं होता। इसके साथ ही ज्ञानार्णवकार मिथ्यादृष्टियों, अस्थिर अभिप्राय वालों तथा कपटपूर्ण जीवन जीने वालों में भी ध्यान की संभावना को स्वीकार नहीं करता है।[६१]

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या गृहस्थ-जीवन में ध्यान संभव नहीं है। यह सही है कि गृहस्थ जीवन में अनेक द्वन्द्व होते हैं और गृहस्थ आर्त और रौद्रध्यान से अधिकांश समय तक जुड़ा रहता है। किन्तु एकान्त रूप से गृहस्थ में धर्म-ध्यान की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अन्यथा गृहस्थ लिंग की अवधारणा खण्डित हो जायेगी। अत: गृहस्थ में भी धर्म-ध्यान की संभावना है।

यह सत्य है कि जो व्यक्ति जीवन के प्रपंचों में उलझा हुआ है, उसके लिए ध्यान संभव नहीं है। किन्तु गृहस्थ जीवन और गृही वेश में रहने वाले सभी व्यक्ति आसक्त ही होते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। अनेक सम्यग्दृष्टि गृहस्थ ऐसे होते हैं, जो जल में कमलवत् गृहस्थ जीवन में अलिप्त भाव से रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए धर्म-ध्यान की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वयं ज्ञानार्णवकार यह स्वीकार करता है कि जो साधु मात्र वेश में अनुराग रखता हुआ अपने को महान समझता है और दूसरों को हीन समझता है, वह साधु भी ध्यान के योग्य नहीं है।[६२] अत: व्यक्ति में मुनिवेशधारण करने से ध्यान की पात्रता नहीं आती है। प्रश्न यह नहीं कि ध्यान गृहस्थ को संभव होगा या साधु को? वस्तुत: निर्लिप्त जीवन जीने वाला व्यक्ति चाहे वह साधु हो या गृहस्थ, उसके लिए धर्मध्यान संभव हो सकता है। दूसरी ओर आसक्त, दंभी और साकांक्ष व्यक्ति, चाहे वह मुनि ही क्यों न हो, उसके लिए धर्मध्यान असंभव होता है। ध्यान की संभावना साधु और गृहस्थ होने पर निर्भर नहीं करती। उसकी संभावना का आधार ही व्यक्ति के चित्त की निराकुलता या अनासक्ति है। जो चित्त अनासक्त और निराकुल है, फिर वह चित्त गृहस्थ का हो या मुनि का, इससे अन्तर नहीं पड़ता। ध्यान के अधिकारी बनने के लिए आवश्यक यह है कि व्यक्ति का मानस निराकांक्ष, अनाकुल और अनुद्विग्न रहे। यह अनुभूत सत्य है कि कोई-कोई व्यक्ति गृहस्थ जीवन में रहकर भी निराकांक्ष, अनाकुल और अनुद्विग्न बना रहता है। दूसरी ओर कुछ साधु, साधु होकर भी सदैव आसक्त, आकुल और उद्विग्न रहते हैं। अत: ध्यान का संबंध गृही-जीवन या मुनि-जीवन से न होकर चित्त की विशुद्धि से है। चित्त जितना विशुद्ध होगा ध्यान उतना ही स्थिर होगा। पुन: जो श्वेताम्बर और यापनीय परम्परायें गृहस्थ में भी १४ गुणस्थान सम्भव मानती हैं, उनके अनुसार तो आध्यात्मिक विकास के अग्रिम श्रेणियों का अरोहण करता हुआ गृहस्थ भी न केवल धर्मध्यान का अपितु शुक्ल -ध्यान का भी अधिकारी होता है।

ध्यान के प्रकार

सामान्यतया जैनाचार्यों ने ध्यान का अर्थ चित्तवृत्ति का किसी एक विषय पर केन्द्रित होना ही माना है। अत: जब उन्होंने ध्यान के प्रकारों की चर्चा की तो उसमें प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों ही प्रकार के ध्यानों को गृहीत कर लिया। उन्होंने आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये ध्यान के चार प्रकार माने।[६३] ध्यान के इन चार प्रकारों में प्रथम दो को अप्रशस्त अर्थात् संसार का हेतु और अन्तिम दो को प्रशस्त अर्थात् मोक्ष का हेतु कहा गया है।[६४] इसका आधार यह माना गया है कि आर्त और रौद्रध्यान राग-द्वेष जनित होने से बंधन के कारण हैं, इसलिए वे अप्रशस्त हैं। जबकि धर्मध्यान और शुक्लध्यान कषाय भाव से रहित होने से मुक्ति के कारण हैं, इसलिए वे प्रशस्त हैं। ध्यानशतक की टीका में तथा अमितगति के श्रावकाचार में इन चार ध्यानों को क्रमश: तिर्यंचगति, नरकगति, देवगति और मुक्ति का कारण कहा गया है। यद्यपि प्राचीन जैन-आगमों में ध्यान का यह चतुर्विध वर्गीकरण ही मान्य रहा है। किन्तु जब ध्यान का संबंध मुक्ति की साधना से जोड़ा गया तो आर्त और रौद्रध्यान को बंधन का कारण होने से ध्यान की कोटि में ही परिगणित नहीं किया गया। अत: दिगम्बर-परम्परा की धवला टीका[६५] में तथा श्वेताम्बर परम्परा के हेमचन्द्र के योगशास्त्र[६६] में ध्यान के दो ही प्रकार माने गए-धर्म और शुक्ल। ध्यान में भेद-प्रभेदों की चर्चा से स्पष्ट रूप से यह ज्ञात होता है कि उसमें क्रमश: विकास होता गया है। प्राचीन आगमों यथा-स्थानांग, समवायांग, भगवतीसूत्र में तथा झाणाज्झया (ध्यानशतक) और तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान के चार विभागों की चर्चा करके क्रमश: उनके चार-चार विभाग किये गए हैं, किन्तु उनमें कहीं भी ध्यान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार प्रकारों की चर्चा नहीं है। जबकि परवर्ती साहित्य में इनकी विस्तृत चर्चा मिलती है। सर्वप्रथम इनका उल्लेख योगीन्दु के योगसार और देवसेन के भावसंग्रह में मिलता है।[६७] मुनि पद्मसिंह ने ज्ञानसार में अर्हन्त के संदर्भ में धर्मध्यान के अन्तर्गत पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ की ही चर्चा की है, किन्तु उन्होंने रूपातीत का कोई स्पष्ट निर्देश नहीं किया है।[६८] इस विवेचना में एक समस्या यह भी है कि पिण्डस्थ और रूपस्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाया गया है। परवर्ती साहित्य में आचार्य नेमिचन्द्र के द्रव्यसंग्रह में ध्यान के चार भेदों की चर्चा के पश्चात् धर्मध्यान के अन्तर्गत पदों के जाप और पंचपरमेष्ठि के स्वरूप का भी निर्देश किया गया है।[६९] इसके टीकाकार ब्रह्मदेव ने यह भी बताया है कि जो ध्यान मंत्र-वाक्यों के आश्रित होता है वह पदस्थ है, जिस ध्यान में 'स्व' या आत्मा का चिन्तन होता है वह पिंडस्थ है, जिसमें चेतना-स्वरूप या विद्रूपता का विचार किया जाता है वह रूपस्थ है तथा निरंजन व निराकार का ध्यान ही रूपातीत है।[७०] अमितगति[७१] ने अपने श्रावकाचार में ध्येय या ध्यान के आलम्बन की चर्चा करते हुए पिण्डस्थ आदि इन चार प्रकार के ध्यानों की विस्तार से लगभग (२७ श्लोकों में) चर्चा की है। यहाँ पिण्डस्थ से पहले पदस्थ ध्यान को स्थान दिया गया है और उसकी विस्तृत चर्चा भी की गई है। शुभचन्द्र[७२] ने ज्ञानार्णव में पदस्थ आदि ध्यान के इन प्रकारों की पूरे विस्तार के साथ (लगभग २७ श्लोकों में) चर्चा की है। परवर्ती आचार्यों में वसुनन्दि, हेमचन्द्र, भास्करनन्दि आदि ने भी इनकी विस्तार से चर्चा की है। पुनः पार्थिवी, आग्नेयी, मारुति, वारुणी और तत्त्वभू ऐसी पिण्डस्थ ध्यान की जो पाँच धारणाएँ कही गई हैं उनका भी प्राचीन ग्रन्थों में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। तत्त्वार्थसूत्र और उसकी प्राचीन टीकाओं में लगभग ६ठी-७वीं शती तक इनका अभाव है, इससे यही सिद्ध होता है कि ध्यान के प्रकारों, उपप्रकारों, लक्षणों, आलम्बनों आदि की जो चर्चा जैन-परम्परा में हुई है, वह क्रमशः विकसित होती रही है और उन पर अन्य परम्पराओं का प्रभाव भी है।

प्राचीन आगमिक साहित्य में स्थानांगसूत्र में ध्यान के प्रकारों, लक्षणों, आलम्बनों में अनुप्रेक्षाओं का जो विवरण मिलता है, वह इस प्रकार है:-

(१) आर्तध्यान- आर्तध्यान हताशा की स्थिति है। स्थानांग के अनुसार इस ध्यान के चार उपप्रकार हैं।[७३] अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर उसके वियोग की सतत् चिन्ता करना यह प्रथम प्रकार का आर्तध्यान है। दुःख के आने पर उसे दूर करने की चिन्ता करना यह आर्तध्यान का दूसरा रूप है। प्रिय वस्तु का वियोग हो जाने पर उसकी पुनः प्राप्ति के लिए चिन्तन करना तीसरे प्रकार का आर्तध्यान है और जो वस्तु प्राप्त नहीं है उसकी प्राप्ति की इच्छा करना चौथे प्रकार का आर्त-ध्यान है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार यह आर्त-ध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत में होता है। इसके साथ ही मिथ्यादृष्टियों में भी इस ध्यान का सद्भाव होता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से मिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यग्दृष्टि तथा देशविरत सम्यग्दृष्टि में आर्तध्यान के उपर्युक्त चारों ही प्रकार पाये जाते हैं, किन्तु प्रमत्त संयत में निदान को छोड़कर अर्थात् अप्राप्त की प्राप्ति की आकांक्षा को छोड़कर अन्य तीन ही आर्तध्यान होते हैं- स्थानांगसूत्र में इनके निम्न चार लक्षणों का उल्लेख हुआ है-[७४]

१)	क्रन्दनता	- उच्च स्वर से रोना।
२)	शोचनता	- दीनता प्रकट करते हुए शोक करना।
३)	तेपनता	- आँसू बहाना।
४)	परिदेवनता	- करुणा-जनक विलाप करना।
(२)	**रौद्रध्यान**	- रौद्र ध्यान आवेगात्मक अवस्था है। रौद्र ध्यान के भी चार भेद किये गये हैं[७५]
१)	हिंसानुबंधी	- निरन्तर हिंसक प्रवृत्ति में तन्मयता करानेवाली चित्त की एकाग्रता।
२)	मृषानुबंधी	- असत्य भाषण करने सम्बन्धी चित्त की एकाग्रता।
३)	स्तेनानुबन्धी	- निरन्तर चोरी करने- कराने की प्रवृत्ति सम्बन्धी चित्त की एकाग्रता
४)	संरक्षणानुबन्धी	- परिग्रह के अर्जन और संरक्षण सम्बन्धी तन्मयता।

कुछ आचार्यों ने विषयसंरक्षण का अर्थ बलात् ऐन्द्रिक भोगों का संकल्प किया है, जबकि कुछ आचार्यों ने ऐन्द्रिक विषयों के संरक्षण में उपस्थित क्रूरता के भाव को ही विषयसंरक्षण कहा है। स्थानांग में इसके भी निम्न चार लक्षणों का निर्देश है।[७६]

१)	उत्सन्नदोष	- हिंसादि किसी एक पाप में निरन्तर प्रवृत्ति करना।
२)	बहुदोष	- हिंसादि सभी पापों के करने में संलग्न रहना।
३)	अज्ञानदोष	- कुसंस्कारों के कारण हिंसादि अधार्मिक कार्यों को धर्म मानना।
४)	आमरणान्त दोष	- मरणकाल तक भी हिंसादि क्रूर कर्मों को करने का अनुताप न होना।

(३) धर्मध्यान- जैन आचार्यों ने साधना की दृष्टि से केवल धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ही ध्यान की कोटि में रखा है। यही कारण है कि आगमों में इनके भेद और लक्षणों की चर्चा के साथ-साथ इनके आलम्बनों और अनुप्रेक्षाओं का भी उल्लेख मिलता है। स्थानांगसूत्र आदि में धर्मध्यान के निम्न चार भेद बताये गये हैं।[७६]

१) आज्ञाविचय- वीतराग सर्वज्ञप्रभु के आदेश और उपदेश के सम्बन्ध में आगमों के अनुसार चिन्तन करना।

२) अपायविचय- दोषों और उनके कारणों का चिन्तन कर उनसे छुटकारा कैसे हो, इस सम्बन्ध में विचार करना। दूसरे शब्दों में हेय क्या है? इसका चिन्तन करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३) विपाकविचय- पूर्वकर्मों के विपाक के परिणामस्वरूप उदय में आनेवाली सुखदु:खात्मक विभिन्न अनुभूतियों का समभावपूर्वक वेदन करते हुए उनके कारणों का विश्लेषण करना। दूसरे कुछ आचार्यों के अनुसार हेय के परिणामों का चिन्तन करना ही विपाकविचय धर्मध्यान है।

विपाकविचय धर्मध्यान को निम्न उदाहरण से भी समझा जा सकता है—

मान लीजिए कोई व्यक्ति हमें अपशब्द कहता है और उन अपशब्दों को सुनने से पूर्वसंस्कारों के निमित्त से क्रोध का भाव उदित होता है। उस समय उत्पन्न होते हुए क्रोध को साक्षी भाव से देखना और क्रोध की प्रतिक्रिया व्यक्त न करना तथा यह विचार करना कि क्रोध का परिणाम दु:खद होता है अथवा यह सोचना कि मेरे निमित्त से इसको कोई पीड़ा हुई होगी, अत: यह मुझे अपशब्द कह रहा है, यह विपाकविचय धर्मध्यान है। संक्षेप में कर्मविपाकों के उदय होने पर उनके प्रति साक्षी भाव रखना, प्रतिक्रिया के दु:खद परिणाम का चिन्तन करना एवं प्रतिक्रिया न करना ही विपाकविचय धर्मध्यान है।

४) संस्थानविचय- लोक के स्वरूप के चिन्तन को सामान्यरूप से संस्थानविचय धर्मध्यान कहा जाता है, किन्तु लोक एवं संस्थान का अर्थ आगमों में शरीर भी है। अत: शारीरिक गतिविधियों पर अपनी चित्तवृत्तियों को केन्द्रित करने को भी संस्थानविचय धर्मध्यान कहा जा सकता है। अपने इस अर्थ में संस्थानविचय धर्मध्यान शरीर-विपश्यना या शरीर-प्रेक्षा के निकट है। आगमों में धर्मध्यान के निम्न चार लक्षण कहे गये हैं-[७८]

१) आज्ञारुचि- जिन-आज्ञा के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करना तथा उसके प्रति निष्ठावान रहना।

२) निसर्गरुचि- धर्मकार्यों में स्वाभाविक रूप से रुचि होना।

३) सूत्ररुचि- आगम-शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन में रुचि होना।

४) अवगाढ़रुचि- आगमिक विषयों के गहन चिन्तन और मनन में रुचि होना। दूसरे शब्दों में आगमिक विषयों का गम्भीरता से अवगाहन करना।

स्थनांगसूत्र में धर्मध्यान के आलम्बनों की चर्चा करते हुए उसमें चार आलम्बन बताये गये हैं[७९]- १. वाचन-अर्थात् आगम साहित्य का अध्ययन करना, २. प्रतिपृच्छना-अध्ययन करते समय उत्पन्न शंका के निवारणार्थ जिज्ञासावृत्ति से उस सम्बन्ध में गुरुजनों से पूछना। ३. परिवर्तना-अधीत सूत्रों का पुनरावर्तन करना ४. अनुप्रेक्षा-आगमों के अर्थ का चिन्तन करना। कुछ आचार्यों की दृष्टि में अनुप्रेक्षा का अर्थ संसार की अनित्यता आदि का चिन्तन करना भी है।

स्थानांगसूत्र के अनुसार धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कही गई हैं:- १. एकत्वानुप्रेक्षा, २. अनित्यानुप्रेक्षा, ३. अशरणानुप्रेक्षा और ४. संसारानुप्रेक्षा। ये अनुप्रेक्षाएँ जैन-परम्परा में प्रचलित १२ अनुप्रेक्षाओं के ही अन्तर्गत हैं। जिनभद्र के ध्यानशतक तथा उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में धर्मध्यान के अधिकारी के सम्बन्ध में चर्चा उपलब्ध होती है। जिनभद्र[८१] के अनुसार जिस व्यक्ति में निम्न चार बातें होती हैं वही धर्मध्यान का अधिकारी होता है। १. सम्यग्ज्ञान (ज्ञान) २. दृष्टिकोण की विशुद्धि (दर्शन), ३. सम्यक् चारित्र या आचरण और ४. वैराग्यभाव। हेमचन्द्र[८२] ने योगशास्त्र में इन्हें ही कुछ शब्दान्तर के साथ प्रस्तुत किया है। वे धर्मध्यान के लिए १. आगमज्ञान, २. अनासक्ति, ३. आत्मसंयम और ४. मुमुक्षुभाव को आवश्यक मानते हैं। धर्मध्यान के अधिकारी के सम्बन्ध में तत्त्वार्थ का दृष्टिकोण थोड़ा भिन्न है। तत्त्वार्थ के श्वेताम्बर-मान्य पाठ के अनुसार धर्मध्यान अप्रमत्तसंयत, उपशांतकषाय और क्षीणकषाय में ही सम्भव है। गुणस्थान सिद्धान्त की दृष्टि से यदि हम कहें तो सातवें से लेकर ग्यारहवें और बारहवें तक में ही धर्मध्यान संभव है। यदि इसे निरंतरता में ग्रहण करें तो अप्रमत्त संयत से लेकर क्षीणकषाय तक अर्थात् सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक धर्मध्यान की संभावना है। तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बर-मान्य मूलपाठ में धर्म-ध्यान के अधिकारी की विवेचना करने वाला सूत्र है ही नहीं। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर-टीकाओं में पूज्यपाद अकलंक और विद्यानन्दि सभी ने धर्मध्यान के स्वामी का उल्लेख किया है किन्तु उनका मंतव्य श्वेताम्बर-परम्परा से भिन्न है। उनके अनुसार चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक ही धर्म ध्यान की संभावना है। आठवें गुणस्थान से श्रेणी प्रारंभ होने के कारण धर्मध्यान संभव नहीं है। इस प्रकार धर्मध्यान के अधिकारी के प्रश्न पर जैन आचार्यों में मतभेद रहा है।

(४) शुक्लध्यान- यह धर्मध्यान के बाद की स्थिति है। शुक्लध्यान के द्वारा मन को शान्त और निष्प्रकम्प किया जाता है। इसकी अन्तिम परिणति मन की समस्त प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध है। शुक्लध्यान चार प्रकार के हैं[८३]- १. पृथक्त्व-वितर्क-सविचार-इस ध्यान में ध्याता कभी द्रव्य का चिन्तन करते करते पर्याय का चिन्तन करने लगता है और कभी पर्याय का चिन्तन करते-करते द्रव्य का चिन्तन करने लगता है। इस ध्यान में कभी द्रव्य पर तो कभी पर्याय पर मनोयोग का संक्रमण होते रहने पर भी ध्येय द्रव्य एक ही रहता है। २. एकत्व-वितर्क-अविचारी-योग-संक्रमण से रहित एक पर्याय विषयक ध्यान एकत्व-वितर्क-अविचार-ध्यान कहलाता है। ३. सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती-मन, वचन और शरीर व्यापार का निरोध हो जाने एवं केवल श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्म क्रिया के शेष रहने पर ध्यान की यह अवस्था प्राप्त होती है। ४. समुच्छिन्न-क्रिया-निवृत्ति-जब मन, वचन और शरीर की समस्त प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है और कोई भी सूक्ष्म क्रिया शेष नहीं रहती उस अवस्था को समुच्छिन्न-क्रिया-निवृत्ति शुक्लध्यान कहते हैं। इस प्रकार शुक्लध्यान की प्रथम अवस्था से क्रमश: आगे बढ़ते हुए अन्तिम अवस्था में साधक कायिक, वाचिक और मानसिक सभी प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध कर अन्त में सिद्धावस्था प्राप्त कर लेता है, जो कि धर्म-साधना और योग-साधना का अन्तिम लक्ष्य है।

स्थानांगसूत्र में शुक्लध्यान के निम्न चार लक्षण कहे गये हैं[८४]-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१) **अव्यथ**-परीषह, उपसर्ग आदि की व्यथा से पीड़ित होने पर भी क्षोभित नहीं होना।

२) **असम्मोह**- किसी भी प्रकार से मोहित नहीं होना।

३) **विवेक**- स्व और पर अर्थात् आत्म और अनात्म के भेद को समझना। भेदविज्ञान का ज्ञाता होना।

४) **व्युत्सर्ग**- शरीर, उपधि आदि के प्रति ममत्व भाव का पूर्ण त्याग दूसरे शब्दों में पूर्ण निर्ममत्व से युक्त होना।

इन चार लक्षणों के आधार पर हम यह बता सकते हैं कि किसी व्यक्ति में शुक्लध्यान संभव होगा या नहीं।

स्थानांगसूत्र में शुक्लध्यान के चार आलम्बन बताये गये हैं[८५]- १. क्षान्ति (क्षमाभाव), २. मुक्ति (निर्लोभता), ३. आर्जव (सरलता) और ४. मार्दव (मृदुता)। वस्तुत: शुक्लध्यान के ये चार आलम्बन चार कषायों के त्याग रूप ही हैं, शान्ति में क्रोध का त्याग है और मुक्ति में लोभ का त्याग है। आर्जव माया (कपट) के त्याग का सूचक है तो मार्दव मान-कषाय के त्याग का सूचक है।

इसी ग्रन्थ में शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख भी हुआ है, किन्तु ये चार अनुप्रेक्षाएँ सामान्य रूप से प्रचलित १२ अनुप्रेक्षाओं से क्वचित् रूप में भिन्न ही प्रतीत होती हैं। स्थानांग में शुक्लध्यान की निम्न चार अनुप्रेक्षाएँ उल्लिखित हैं[८६]-

१) अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा- संसार के परिभ्रमण की अनन्तता का विचार करना।

२) विपरिणामानुप्रेक्षा- वस्तुओं के विविध परिणमनों का विचार करना।

३) अशुभानुप्रेक्षा- संसार, देह और भोगों की अशुभता का विचार करना।

४) अपायानुप्रेक्षा- राग, द्वेष से होने वाले दोषों का विचार करना।

शुक्लध्यान के चार प्रकारों के सम्बन्ध में बौद्धों का दृष्टिकोण भी जैन-परम्परा के निकट ही है। बौद्ध-परम्परा में चार प्रकार के ध्यान माने गये हैं।

१) सवितर्कसविचारविवेकजन्य प्रीतिसुखात्मक-प्रथम ध्यान।

२) वितर्कविचाररहित समाधिजप्रीतिसुखात्मक-द्वितीय ध्यान।

३) राग और विराग के प्रति उपेक्षा तथा स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त उपेक्षास्मृतिसुखविहारी-तृतीय ध्यान।

४) सुखदु:ख एवं सौमनस्य-दौर्मनस्य से रहित असुख-अदु:खात्मक उपेक्षा एवं परिशुद्धि से युक्त-चतुर्थ ध्यान।

इस प्रकार चारों शुक्लध्यान बौद्ध-परम्परा में भी थोड़े शब्दिक अन्तर के साथ उपस्थित हैं।

योग-परम्परा में भी समापत्ति के चार प्रकार बतलाये हैं, जो कि जैन-परम्परा के शुक्लध्यान के चारों प्रकारों के समान ही लगते हैं, समापत्ति के निम्न चार प्रकार हैं- १. सवितर्का, २. निर्वितर्का, ३. सविचारा और ४. निर्विचारा।

शुक्लध्यान के स्वामी के सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्र के (शुक्ले चाद्ये पूर्वविद: - ९/३९) श्वेताम्बर मूलपाठ और दिगम्बर मूलपाठ में तो अन्तर नहीं है, किंतु 'च' शब्द से क्या अर्थ ग्रहण करना चाहिए, इसे लेकर मतभेद है। श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार उपशान्त कषाय एवं क्षीणकषाय पूर्वधरों में चार शुक्लध्यानों में प्रथम दो शुक्लध्यान सम्भव हैं। बाद के दो, केवली (सायोगी केवली और आयोगी केवली) में सम्भव हैं। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार आठवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक शुक्लध्यान है। पूर्व के दो शुक्लध्यान आठवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती पूर्वधरों में सम्भव होते हैं और शेष दो तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवार्ती केवली को होते हैं।[८७]

जैन-ध्यान साधना पर तान्त्रिक साधना का प्रभाव- पूर्व में हम विस्तार से यह स्पष्ट कर चुके हैं कि ध्यान-साधना श्रमण-परम्परा की अपनी विशेषता है, उसमें ध्यान-साधना का मुख्य प्रयोजन आत्माविशुद्धि अर्थात् चित्त को विकल्पों एवं विक्षोभों से मुक्त कर निर्विकल्पदशा या समाधि (समत्व) में स्थित करना रहा है। इसके विपरीत तान्त्रिक साधना में ध्यान का प्रयोजन मन्त्रसिद्धि और हठयोग में षटचक्रों का भेदन कर कुण्डलिनी को जागृत करना है। यद्यपि उनमें भी ध्यान के द्वारा आत्मशांति या आत्मविशुद्धि की बात कही गई है, किन्तु यह उनपर श्रमणधारा के प्रभाव का ही परिणाम है, क्योंकि वैदिकधारा के अथर्ववेद आदि प्राचीन ग्रन्थों में मंत्र-सिद्धि का प्रयोजन लौकिक उपलब्धियों के हेतु विशिष्ट शक्तियों की प्राप्ति ही था। वस्तुत: हिन्दू तान्त्रिक साधना वैदिक और श्रमण परम्पराओं के समन्वय का परिणाम है। उसमें मारण, मोहन, वशीकरण, स्तम्भन आदि षट्कर्मों के लिए मंत्र-सिद्धि की जो चर्चा है वह वैदिकधारा का प्रभाव है, क्योंकि उसके बीज अथर्ववेद आदि में भी हमें उपलब्ध होते हैं, जबकि ध्यान, समाधि आदि के द्वारा आत्मविशुद्धि की जो चर्चा है वह निवृत्तिमार्गी श्रमण-परम्परा का प्रभाव है। किन्तु यह भी सत्य है कि सामान्य रूप से श्रमणधारा और विशेष रूप से जैनधारा पर भी हिन्दू तान्त्रिक साधना और विशेष रूप से कौलतंत्र का प्रभाव आया है।

वस्तुत: जैन-तंत्र में सकलीकरण, आत्मरक्षा, पूजाविधान और षट्कर्मों के लिए मन्त्रसिद्धि के विधि-विधान हिन्दू तन्त्र से प्रभावित हैं। मात्र इतना ही नहीं, जैन ध्यान-साधना, जो श्रमणधारा की अपनी मौलिक साधना-पद्धति है, पर भी हिन्दू तंत्र-विशेष रूप से कौलतंत्र का प्रभाव आया है। यह प्रभाव ध्यान के आलम्बन या ध्येय को लेकर है।

जैन-परम्परा में ध्यान-साधना के अन्तर्गत विविध आलम्बनों की चर्चा तो प्राचीन काल से थी, क्योंकि ध्यान-साधना में चित्त की एकाग्रता के लिए प्रारम्भ में किसी न किसी विषय का आलम्बन तो लेना ही पड़ता है। प्रारम्भ में जैन-परम्परा में आलम्बन के आधार पर धर्म-ध्यान को निम्न चार प्रकार में विभाजित किया गया था-

१. अज्ञाविचय, २. अपायविचय

३. विपाक विचय ४. संस्थानाविय

इन चारों की विस्तृत चर्चा हम पूर्व में कर चुकें हैं। यह भी स्पष्ट है कि धर्मध्यान के ये चारों आलम्बन जैनों के अपने मौलिक हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु आगे चलकर इन आलम्बनों के संदर्भ में तंत्र का प्रभाव आया और लगभग ग्यारहवीं-बारहवीं शती के आलम्बन के आधार पर धर्मध्यान के नवीन चार भेद किये गये-

१. पिण्डस्थ २. पदस्थ
३. रूपस्थ ४. रूपातीत

यह स्पष्ट है कि धर्मध्यान के इन आलम्बनों की चर्चा मूलत: कौलतन्त्रों से प्रभावित है, क्योंकि शुभचन्द्र (ग्यारहवीं शती) और हेमचन्द्र (बारहवीं शती) के पूर्व हमें किसी भी जैन-ग्रंथ में इनकी चर्चा नहीं मिलती है। सर्वप्रथम शुभचन्द्र ने अपने ज्ञानार्णव में और हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के अन्त में ध्यान के इन चारों आलम्बनों की चर्चा की है। इनके पूर्व के किसी भी आचार्य ने इन चारों आलम्बनों की कोई चर्चा नहीं की है। मात्र यही नहीं, पिण्डस्थ- ध्यान के अन्तर्गत धारणाएँ हैं- १. पार्थिवी, २. आग्नेयी, ३. मारुति, ४. वारुणी और ५. तत्त्ववती। वस्तुत: ध्यान के इन चार आलम्बनों में और पञ्च धारणाओं में ध्यान का विषय स्थूल से सूक्ष्म होता जाता है। आगे हम संक्षेप में इनकी चर्चा करेंगे। ध्यान के इन चारों आलम्बनों या ध्येयों और पाँचों धारणाओं को जैनों ने कौलतंत्र से गृहीत करके अपने ढंग से किस प्रकार समायोजित किया है यह निम्न विवरण से स्पष्ट हो जायेगा।

(१) पिण्डस्थ ध्यान- ध्यान-साधना के लिए प्रारम्भ में कोई न कोई आलम्बन लेना आवश्यक होता है। साथ ही इसके क्षेत्र में प्रगति के लिए यह भी आवश्यक होता है कि इन आलम्बनों का विषय क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म होता जाये। पिण्डस्थ ध्यान में आलम्बन का विषय सबसे स्थूल होता है। पिण्ड शब्द के दो अर्थ हैं- शरीर अथवा भौतिक वस्तु। पिण्ड शब्द का अर्थ शरीर लेने पर पिण्डस्थ ध्यान का अर्थ होगा- आन्तरिक शारीरिक गतिविधियों पर ध्यान केन्द्रित करना, जिसे हम शरीरप्रेक्षा भी कह सकते हैं, किन्तु पिण्ड का अर्थ भौतिक तत्त्व करने पर पार्थिवी आदि धारणायें भी पिण्डस्थ ध्यान के अन्तर्गत ही आ जाती हैं। ये धारणायें निम्न हैं-

(क) **पार्थिवीधारणा-** आचार्य हेमचंद्र के योगशास्त्र के अनुसार पार्थिवीधारणा में साधक को मध्यलोक के समान एक अतिविस्तृत क्षीरसागर का चिंतन करना चाहिए। फिर यह विचार करना चाहिए कि उस क्षीरसागर के मध्य में जम्बूद्वीप के समान एक लाख योजन विस्तार वाला और एक हजार पंखुड़ियों वाला एक कमल है। उस कमल के मध्य में देदीप्यमान स्वर्णिम आभा से युक्त मेरु पर्वत के समान एक लाख योजन ऊँची कर्णिका है, उस कर्णिका के ऊपर एक उज्जवल श्वेत सिंहसान है, उस सिंहासन पर आसीन होकर मेरी आत्मा अष्टकर्मों का समूल उच्छेदन कर रही है।

(ख) **आग्नेयीधारणा-** ज्ञानार्णव और योगशास्त्र में इस धारणा के विषय में कहा गया है कि साधक अपने नाभिमण्डल में सोलह पंखुड़ियों वाले कमल का चिंतन करे। फिर उस कमल की कर्णिका पर अर्हं की, और प्रत्येक पंखुड़ी पर क्रमशः अ, आ, इ, ई, उ, ऊ ऋ ॠ, ऌ, ॡ ए, ऐ, ओ, औ, अं, अ:- इन सोलह स्वरों की स्थापना करे। इसके पश्चात् अपने हृदय भाग में अधोमुख आठ पंखुड़ियों वाले कमल का चिंतन करे और यह विचार करे कि ये आठ पखुंड़ियाँ अनुक्रम से १. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयुष्य, ६. नाम, ७. गोत्र और ८. अंतराय कर्मों की प्रतिनिधि हैं। इसके पश्चात् यह चिंतन करे कि उस अर्हं से जो अग्नि-शिखायें निकल रही हैं, उनसे अष्टदलकमल की अष्टकर्मों की प्रतिनिधि ये पखुंड़ियाँ दग्ध हो रही हैं। अंत में यह चिंतन करे कि अर्हं के ध्यान से उत्पन्न इन प्रबल अग्नि-शिखाओं ने अष्टकर्म रूपी उस अधोमुख कमल को दग्ध कर दिया है उसके बाद तीन कोण वाले स्वस्तिक तथा अग्निबीज रेफ से युक्त वह्निपुर का चिंतन करना चाहिए और यह अनुभव करना चाहिए कि उस रेफ से निकली हुई ज्वालाओं ने अष्टकर्मों के साथ-साथ मेरे इस शरीर को भी भस्मीभूत कर दिया है। इसके पश्चात् उस अग्नि के शांत होने की धारणा करे।

(ग) **वायवीय धारणा-** आग्नेयी धारणा के पश्चात् साधक यह चिंतन करे कि समग्र लोक के पर्वतों को चलायमान कर देने में और समुद्रों को भी क्षुब्ध कर देने में समर्थ प्रचण्ड पवन बह रहा है तथा मेरे देह और आठ कर्मों के भस्मीभूत होने से जो राख बनी थी, उसे वह प्रचण्ड पवन वेग से उड़ाकर ले जा रहा है। अंत में यह चिंतन करना चहिए कि उस राख को उड़ाकर यह पवन भी शांत हो रहा है।

(घ) **वारुणीय धारणा-** वायवीय धारणा के पश्चात् साधक यह चिंतन करे कि अर्धचन्द्राकार कलाबिन्दु से युक्त वरुण बीज 'वं' से उत्पन्न अमृत के समान जल से युक्त मेघमालाओं से आकाश व्याप्त है और इन मेघमालाओं से जो जल बरस रहा है, उसने शरीर और कर्मों की जो भस्मी उड़ी थी उसे भी धो दिया है।

(ङ) **तत्त्ववती धारणा-** उपर्युक्त चारों धारणाओं के द्वारा सप्तधातुओं से बने शरीर और अष्टकर्मों के समाप्त हो जाने पर साधक पूर्णचन्द्र के समान निर्मल एवं उज्जवल कांति वाले विशुद्ध आत्मतत्त्व का चिंतन करे और यह अनुभव करे कि उस सिंहासन पर आसीन मेरी शुद्ध-बुद्ध-आत्मा अरहंत स्वरूप है।

इस प्रकार की ध्यान-साधना के फल की चर्चा करते हुए आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि पिण्डस्थ ध्यान के रूप में इन पाँचों धारणाओं का अभ्यास करने वाले साधक का उच्चाटन, मारण, मोहन, स्तम्भन आदि सम्बन्धी दुष्ट विद्यायें और मांत्रिक शक्तियाँ कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती हैं। डाकिनी-शाकिनियाँ, क्षुद्र योगिनियाँ, भूत, प्रेत, पिशाचादि दुष्ट प्राणी उसके तेज को सहन करने में समर्थ नहीं हैं। उसके तेज से वे त्रास को प्राप्त होते हैं। सिंह, सर्प आदि हिंसक जन्तु भी स्तम्भित होकर उससे दूर ही रहते हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में (७/८-२८) तान्त्रिक परम्परा की इन पाँचों धारणाओं को स्वीकार करके भी उन्हें जैन धर्म-दर्शन की आत्मविशुद्धि की अवधारणा से योजित किया है। क्योंकि इन धारणाओं के माध्यम से वे अष्टकर्मों के नाश के द्वारा शुद्ध आत्मदशा में अवस्थित होने का ही निर्देश करते हैं, किन्तु जब वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी पिण्डस्थ ध्यान की पाँचों धारणाओं के फल की चर्चा करते हैं, तो स्पष्ट ऐसा लगता है कि वे तांत्रिक परम्परा से प्रभावित हैं, क्योंकि यहाँ उन्होंने उन्हीं भौतिक उपलब्धियों की चर्चा की है जो प्रकारान्तर से तांत्रिक साधना का उद्देश्य होती है।

(२) पदस्थ ध्यान

जिस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान में ध्येयभौतिक पिण्ड या शरीर होता है उसी प्रकार पदस्थ ध्यान में ध्यान का आलम्बन पवित्र मंत्राक्षर, बीजाक्षर या मातृकापद होते हैं। पदस्थ ध्यान का अर्थ है पदों अर्थात् स्वर और व्यञ्जनों की विशिष्ट रचनाओं को अपने ध्यान का आलम्बन या ध्येय बनाना। इस ध्यान के अन्तर्गत मातृकापदों अर्थात् स्वर-व्यञ्जनों पर ही ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इस पदस्थ ध्यान में शरीर के तीन केन्द्रों अर्थात् नाभिकमल, हृदयकमल तथा मुखकमल की कल्पना की जाती है। इसमें नाभिकमल के रूप में सोलह पंखुड़ियों वाले कमल की कल्पना करके उसकी उन पंखुड़ियों पर सोलह स्वरों का स्थापन किया जाता है। हृदयकमल में कर्णिका सहित चौबीस पटल वाले कमल की कल्पना की जाती है और उसकी मध्यकर्णिका तथा चौबीस पटलों पर क्रमश: क, ख, ग, घ आदि 'क' वर्ग से 'प' वर्ग तक के पच्चीस व्यञ्जनों की स्थापना करके उनका ध्यान किया जाता है। इसी प्रकार अष्टपटलयुक्त मुखकमल की कल्पना करके उसके उन अष्ट पटलों पर य, र, ल, व, श, ष, स, ह,- इन आठ वर्णों का ध्यान किया जाता है। चूँकि सम्पूर्ण वाङ्मय इन्ही मातृकापदों से निर्मित है, अत: इन मातृकापदों का ध्यान करने से व्यक्ति सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञाता हो जाता है (योगशास्त्र ८/१-५)।

ज्ञानार्णव के अनुसार मंत्र व वर्णों (स्वर-व्यञ्जनों) के ध्यान में समस्त पदों का स्वामी 'अर्हं' माना गया है, जो रेफ कला एवं बिन्दु से युक्त अनाहत मंत्रराज है। इस ध्यान के विषय में कहा गया है कि साधक को एक सुवर्णमय कमल की कल्पना करके उसके मध्य में कर्णिका पर विराजमान, निष्कलंक, निर्मल चंद्र की किरणों जैसे आकाश एवं संपूर्ण दिशाओं में व्याप्त 'अर्हं' मंत्र का स्मरण करना चाहिए। तत्पश्चात् उसे मुखकमल में प्रवेश करते हुए, प्रवलयों में भ्रमण करते हुए, नेत्रपालकों पर स्फुरित होते हुए, भाल-मण्डल में स्थिर होते हुए, तालुरन्ध्र से बाहर निकलते हुए, अमृत की वर्षा करते हुए, उज्ज्वल चंद्रमा के साथ स्पर्धा करते हुए, ज्योतिर्मण्डल में भ्रमण करते हुए, आकाश में संचरण करते हुए तथा मोक्ष के साथ मिलाप करते हुए कुम्भक के समान सम्पूर्ण अवयवों में व्याप्त होने का चिन्तन करना चाहिए।

इस प्रकार चित्त एवं शरीर में इसकी स्थापना द्वारा मन को क्रमश: सूक्ष्मता के 'अर्हं' मंत्र पर केंद्रित किया जाता है। अर्हं के स्वरूप में अपने को स्थिर करने पर साधक के अन्तरंग में एक ऐसी ज्योति प्रकट होती है, जो अक्षय तथा अतीन्द्रिय होती है। इसी ज्योति का नाम ही आत्मज्योति है तथा इसी से साधक को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

प्रणव नामक ध्यान में अर्हं के स्थान पर 'ॐ' पद का ध्यान किया जाता है। इस ध्यान का साधक-योगी सर्वप्रथम हृदयकमल में स्थित कर्णिका में इस पद की स्थापना करता है तथा वचन-विलास की उत्पत्ति के अद्वितीय कारण स्वर तथा व्यंजन से युक्त, पंचपरमेष्ठि के वाचक, मूर्धा में स्थित चंद्रकला से झरनेवाले अमृत के रस से सराबोर महामंत्र प्रणव (ॐ) श्वास को निश्चल करके कुम्भक द्वारा ध्यान करता है। इस ध्यान की विशेषता यह है कि स्तम्भन कार्य में पीत, वशीकरण में लाल, क्षोभन में मूंगे के रंग के समान, विद्वेषण में कृष्ण, कर्मनाश अवस्था में चंद्रमा की प्रभा के समान उज्जवल वर्ण का ध्यान किया जाता है।

हेमचन्द्र के अनुसार पंचपरमेष्ठि नामक ध्यान में प्रथम हृदय में आठ पंखुड़ीवाले कमल की स्थापना करके कर्णिका के मध्य में सप्ताक्षर 'अरहंताणं' पद का चिन्तन किया जाता है। तत्पश्चात् चारों दिशाओं के चार पत्रों पर क्रमश: 'णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं तथा णमो लोए सव्वसाहूणं' का ध्यान किया जाता है तथा चार विदिशाओं के पत्रों पर क्रमश: 'एसो पंचणमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मगलं' का ध्यान किया जाता है। शुभचंद्र के मतानुसार मध्य एवं पूर्वादि चार दिशाओं में तो णमो अरहंताणं आदि का तथा चार विदिशाओं में क्रमश: 'सम्यग्दर्शनाय नम:, सम्यग्ज्ञानाय नम: सम्यक् चारित्राय नम: तथा सम्यग्तपसे नम:' का चिंतन किया जाता है।

इनके अतिरिक्त इन दोनों नमस्कारमंत्र से सम्बन्धित अनेक ऐसे मन्त्रों या पदों का उल्लेख है जिनका ध्यान या जप करने से मनोव्याधियाँ शान्त होती हैं, कष्टों का परिहार होता है तथा कर्मों का आस्रव रुक जाता है। इनकी विस्तृत चर्चा हम 'तन्त्र-साधना और जैन धर्म' नामक पुस्तक में कर चुके हैं।

इस प्रकार पदस्थ ध्यान में चित्त को स्थित करने के लिए मातृका पदों बीजाक्षरों एवं मंत्राक्षरों का आलम्बन किया जाता है।

जैनाचार्यों ने यह तो माना है कि इस पदस्थ ध्यान से विभिन्न लब्धियाँ या अलौकिक शक्तियाँ भी प्राप्त होती हैं, किन्तु वे साधक को इनसे दूर रहने का ही निर्देश करते हैं, क्योंकि उनका लक्ष्य चित्त को शुद्ध और एकाग्र करना है, न कि भौतिक उपलब्धियाँ प्राप्त करना।

(३) **रूपस्थ ध्यान-** इस ध्यान में साधक अपने मन को अर्हं पर केन्द्रित करता है अर्थात् उनके गुणों एवं आदर्शों का चिन्तन करता है। अर्हंत के स्वरूप का आवलम्बन करके जो ध्यान किया जाता है वह ध्यान रूपस्थ ध्यान कहलाता है। रूपस्थ ध्यान का साधक रागद्वेषादि विकारों से रहित समस्त गुणों, प्रतिहार्यों एवं अतिशयों से युक्त जिनेन्द्रदेव का निर्मल चित्त से ध्यान करता है। वस्तुत: यह सगुण परमात्मा का ध्यान है।

(४) **रूपातीत ध्यान-** रूपातीत ध्यान का अर्थ है रूप-रंग से अतीत निरंजन, निराकार, ज्ञान स्वरूप एवं आनन्दस्वरूप सिद्ध परमात्मा का स्मरण करना। इस अवस्था में ध्याता ध्येय के साथ एकत्व की अनुभूति करता है। अत: इस अवस्था को समरसीभाव भी कहा गया है।

इस तरह पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत ध्यानों द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रमशः भौतिक तत्त्वों या शरीर, मातृकापदों, सर्वज्ञदेव तथा सिद्धात्मा का चिंतन किया जाता है; क्योंकि स्थूल ध्येयों के बाद क्रमश सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ध्येय का ध्यान करने से मन में स्थिरता आती है और ध्याता एवं ध्येय में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

जैन-धर्म में ध्यान-साधना का विकासक्रम

जैन-धर्म में ध्यानसाधना की परम्परा प्राचीनकाल से ही उपलब्ध होती है। सर्वप्रथम हमें आचारांग में महावीर के ध्यान-साधना संबंधी अनेक सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। आचारांग के अनुसार महावीर अपने साधनात्मक जीवन में अधिकांश समय ध्यान-साधना में ही लीन रहते थे।[८८] आचारांग से यह भी ज्ञात होता है कि महावीर ने न केवल चित्तवृत्तियों के स्थिरीकरण का अभ्यास किया था, अपितु उन्होंने दृष्टि के स्थिरीकरण का भी अभ्यास किया था। इस साधना में वे अपलक होकर दीवार आदि किसी एक बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित करते थे। इस साधना में उनकी आँखें लाल हो जाती थीं और बाहर की ओर निकल आती थीं, जिन्हें देखकर दूसरे लोग भयभीत भी होते थे।[८९] आचारांग के ये उल्लेख इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि महावीर ने ध्यान-साधना की बाह्य और आभ्यन्तर अनेक विधियों का प्रयोग किया था। वे अप्रमत्त (जाग्रत) होकर समाधिपूर्वक ध्यान करते थे। ऐसे भी उल्लेख उपलब्ध होते हैं कि महावीर के शिष्य- प्रशिष्यों में भी यह ध्यान-साधना की प्रवृत्ति निरन्तर बनी रही। उत्तराध्ययन में मुनिजीवन की दिनचर्या का विवेचन करते हुए स्पष्ट रूप से निर्देश दिया गया है कि मुनि दिन और रात्रि के द्वितीय प्रहर में ध्यान साधना करे।[९०] महावीरकालीन साधकों के ध्यान की कोष्ठोपगत विशेषता आगमों में उपलब्ध होती है। यह इस बात की सूचक है कि उस युग में ध्यान-साधना मुनि-जीवन का एक आवश्यक अंग थी। भद्रबाहु द्वारा नेपाल में जाकर महाप्राण ध्यान की साधना करने का उल्लेख भी मिलता है।[९१] इसी प्रकार दुर्बलिकापुष्यमित्र की ध्यान-साधना का उल्लेख आवश्यकचूर्णि में है।[९२] यद्यपि आगमों में ध्यान संबंधी निर्देश तो हैं, किन्तु महावीर और उनके अनुयायियों की ध्यान-प्रक्रिया का विस्तृत विवरण उनमें उपलब्ध नहीं है।

महावीर के युग में श्रमण-परम्परा में ऐसे अनेक श्रमण थे जिनकी अपनी-अपनी ध्यान-साधना की विशिष्ट पद्धतियाँ थी। इनमें बुद्ध और महावीर के समकालीन किन्तु उनसे ज्येष्ठ रामपुत्त का हम प्रारम्भ में ही उल्लेख कर चुके हैं। आचारांगसूत्र में साधकों के सम्बन्ध में विपस्सी और पासग[९३] जैसे विशेषण मिलते हैं। इससे ऐसा लगता है कि भगवान् महावीर की निर्ग्रन्थ-परम्परा में भी ज्ञाता-द्रष्टाभाव में चेतना को स्थिर रखने के लिए विपश्यना जैसी कोई ध्यान-साधना की पद्धति रही होगी। उसमें श्वासोच्छ्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा, कषाय या चित्त प्रेक्षा के संकेत तो हैं किन्तु विस्तृत विवरणों के अभाव में आज उस पद्धति की सम्पूर्ण प्रक्रिया की चर्चा नहीं की जा सकती, परन्तु आचारांग जैसे प्राचीन आगम में इन शब्दों की उपस्थिति इस तथ्य की सूचक अवश्य है कि उस युग में ध्यान- साधना की जैन-परम्परा की अपनी कोई विशिष्ट पद्धति थी। यह भी हो सकता है कि साधकों की प्रकृति के अनुरूप ध्यान-साधना की एकाधिक पद्धतियाँ भी प्रचलित रही हों, किन्तु आगमों की अन्तिम वाचना तक वे विलुप्त होने लगी थीं। जिस रामपुत्त का निर्देश भगवान् बुद्ध के ध्यान के शिक्षक के रूप में मिलता है, उनका उल्लेख जैन-परंपरा के प्राचीन आगमों में जैसे सूत्रकृतांग, अंतकृद्दशा, औपपातिकदशा, ऋषिभाषित आदि में होना[९४] इस बात का प्रमाण है कि निर्ग्रन्थ-परम्परा रामपुत्त की ध्यान-साधना की पद्धति से प्रभावित थी। बौद्ध-परम्परा की विपश्यना और निर्ग्रंथ-परम्परा की आचारांग की ध्यान साधना में जो कुछ निकटता परिलक्षित होती है, वह यह सूचित करती है कि सम्भवतः दोनों का मूल स्रोत रामपुत्त की ध्यान-पद्धति ही रही होगी। इस संबंध में तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाना अपेक्षित है।

षट् आवश्यकों में कायोत्सर्ग को भी एक आवश्यक माना गया है। कायोत्सर्ग ध्यान-साधनापूर्वक ही होता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। प्रतिक्रमण में अनेक बार कायोत्सर्ग (ध्यान) किया जाता है। वर्तमानकाल में भी यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से जीवित है। आज भी ध्यान की इस परम्परा में आचार संबंधी दोषों के चिन्तन के अतिरिक्त नमस्कार मंत्र, चतुर्विंशतिस्तव के माध्यम से पंचपरमेष्ठि अथवा तीर्थंकरों का ध्यान किया जाता है। हुआ मात्र यह है कि ध्यान की इस समग्र प्रकिया में, जो सजगता अपेक्षित थी, वह समाप्त हो गयी है और ये सब ध्यान संबंधी प्रक्रियाएँ रूढ़ि मात्र बनकर रह गई हैं। यद्यपि इन प्रक्रियाओं की उपस्थिति से यह ज्ञात होता है कि ध्यान की इन प्रक्रियाओं से चेतना से सतत् रूप से जाग्रत या ज्ञाता-द्रष्टा- भाव में स्थिर रखने का प्रयास किया जाता रहा है।

आगम युग तक जैन-धर्म में ध्यान का उद्देश्य मुख्य रूप से आत्मशुद्धि या चारित्रशुद्धि ही था अथवा यों कहें कि वह चित्त को समभाव में स्थिर रखने का प्रयास था।

मध्य युग में जब भारत में तंत्र और हठयोग संबंधी साधनाएँ प्रमुख बनीं तो उनके प्रभाव से जैन-ध्यान की प्रक्रिया में परिवर्तन आया। आगमिक काल में ध्यान-साधना में शरीर, इन्द्रिय, मन और चित्त-वृत्तियों के प्रति सजग होकर चेतना को द्रष्टाभाव या साक्षीभाव में स्थिर किया जाता था, जिससे शरीर और मन के उद्वेग और आकुलताएँ शान्त हो जाती थीं। दूसरे शब्दों में वह चैतसिक समत्व अर्थात् सामायिक की साधना थी, जिसका कुछ रूप आज भी विपश्यना में उपलब्ध हैं। किन्तु जैसे-जैसे भारतीय समाज में तंत्र और हठयोग का प्रभाव बढ़ा वैस-वैसे जैन साधनापद्धति में भी परिर्वतन आया। जैन-ध्यानपद्धति में पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ आदि ध्यान की विधियाँ और पार्थिवी, आग्नेयी, वायवीय और वारुणीय जैसी धारणाएँ सम्मिलित हुईं। बीजाक्षरों तथा मंत्रों का ध्यान करने की परम्परा विकसित हुई और षट्चक्रों के भेदन का प्रयास भी हुआ। यह स्पष्ट है कि यह सब कौलतन्त्र एवं हठयोग से जैन-परम्परा में आया।

यदि हम जैन-परम्परा में ध्यान की प्रक्रिया का इतिहास देखते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं तो यह स्पष्ट लगता है कि उस पर अन्य भारतीय ध्यान एवं योग की परम्पराओं का प्रभाव आया है, जो हरिभद्र के पूर्व से ही प्रारंभ हो गया था। हरिभद्र उनकी ध्यान-विधि को लेकर भी उसमें अपनी परम्परा के अनुरूप बहुत कुछ परिवर्तन किये थे। पूर्व मध्ययुग की जैन ध्यान-साधना-विधि उस युग की योग-साधना-विधि से पर्याप्त रूप से प्रभावित हुई थी।

मध्ययुग में ध्यान-साधना का प्रयोग भी बदला। प्राचीन काल में ध्यान-साधना का प्रयोजन मात्र आत्म-विशुद्धि या चैत्तसिक समत्व था, किन्तु उमास्वाति (ईसा की तीसरी-चौथी शती) के युग में उसके साथ विभिन्न ऋद्धियों और लब्धियों की चर्चा भी जुड़ी और यह माना जाने लगा कि ध्यान-साधना से विविध अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। तत्त्वार्थभाष्य में उमास्वाति ने ध्यान से सिद्ध होने वाली विधि-लब्धियों की विस्तृत चर्चा की है जिनका उल्लेख हम सूरिमन्त्र की साधना के प्रसंग में कर चुके है।

ध्यान की प्रभावशीलता को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक तो था, किन्तु इसके अन्य परिणाम भी सामने आये। जब अनेक साधक इन हठयोगी साधनाओं के माध्यम से ऋद्धि या लब्धि प्राप्त करने में असमर्थ रहे तो उन्होंने यह मान लिया कि वर्तमान युग में ध्यान-साधना संभव ही नहीं है। ध्यान-साधना की सिद्धि केवल उत्तम संहनन के धारक मुनियों अथवा पूर्वधरों को ही संभव थी। ऐसे भी अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं जिनमें कहा गया है कि पंचमकाल में उच्चकोटि का धर्मध्यान या शुक्लध्यान संभव नहीं है। मध्ययुग में ध्यान-प्रक्रिया में कैसे-कैसे परिवर्तन हुए, यह बात प्राचीन आगमों में तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं, दिगम्बर जैन-पुराणों, श्रावकाचारों एवं हरिभद्र, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र आदि के ग्रंथों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। मध्यकाल में ध्यान की निषेधक और समर्थक दोनों धाराएँ साथ-साथ संभव न हो, किन्तु धर्मध्यान की साधना तो संभव है। मात्र यह ही नहीं, मध्ययुग में धर्मध्यान के स्वरूप में काफी कुछ परिवर्तन किया गया और उसमें अन्य परम्पराओं की अनेक धारणाएँ सम्मिलित हो गयीं। जैसे पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान, पार्थिवी, आग्नेयी, वायवीय, वारुणीय एवं तत्त्ववती धारणाएँ, मातृकापदों एवं मंत्राक्षरों का ध्यान, प्राणायाम, षट्चक्रभेदन आदि इस युग में ध्यान-संबंधी स्वतंत्र साहित्य का भी पर्याप्त विकास हुआ। झाणाज्झयण (ध्यानशतक) से लेकर ज्ञानार्णव, ध्यानस्तव, योगशास्त्र आदि अनेक स्वतंत्र ग्रंथ भी ध्यान पर लिखे गये। मध्ययुग तन्त्र, हठयोग और जैन-ध्यान के समन्वय का युग कहा जा सकता हैं। इस काल में जैन ध्यान-पद्धति योग परम्परा से, विशेष रूप से हठयोग की परम्परा से एवं तांत्रिक परम्परा से पर्याप्त रूप से प्रभावित और समन्वित हुई।

आधुनिक युग तक यही स्थिति चलती रही। आधुनिक युग में जैन ध्यान-साधना की पद्धति में पुन: एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। इस क्रान्ति का मूलभूत कारण तो श्री सत्यनारायणजी गोयनका द्वारा बौद्धों की प्राचीन विपश्यना साधना-पद्धति को बर्मा से लाकर भारत में पुनर्स्थापित करना था। भगवान् बुद्ध की ध्यान- साधना की विपश्यना पद्धति की जो एक जीवित परम्परा किसी प्रकार से बर्मा में बची रही थी, वह सत्यनारायणजी गोयनका के माध्यम से पुन: भारत में अपने जीवंत रूप में लौटी। उस ध्यान की जीवंत परम्परा के आधार पर जैनों को, भगवान महावीर की ध्यान-साधना की पद्धति क्या रही होगी, इसका आभास हुआ। जैन-समाज का यह भी सद्भाग्य है कि कुछ जैन-मुनि एवं साध्वियाँ उनकी विपश्यना की साधना-पद्धति से जुड़े। संयोग से मुनि श्री नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) जैसे प्राज्ञ साधक विपश्यना-साधना से जुड़े और उन्होंने विपश्यना ध्यान-पद्धति तथा हठयोग की प्राचीन ध्यान-पद्धति को आधुनिक मनोविज्ञान एवं शरीरविज्ञान के आधारों पर परखा और उन्हें जैन साधना परम्परा से आपूरित करके प्रेक्षाध्यान की जैनधारा को पुनर्जीवित किया है। यह स्पष्ट है कि आज प्रेक्षाध्यान-प्रक्रिया जैन-ध्यान की एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में अपना अस्तित्व बना चुकी है। उसकी वैज्ञानिकता और उपयोगिता पर भी कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता है, किन्तु उसके विकास में सत्यनारायणजी गोयनका द्वारा भारत लायी गयी विपश्यना-ध्यान की साधना-पद्धति के योगदान को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। आज प्रेक्षाध्यान-पद्धति निश्चित रूप से विपश्यना की ऋणी है। गोयनका जी का ऋण स्वीकार किए बिना हम अपनी प्रामाणिकता को सिद्ध नहीं कर सकेंगे। साथ ही इस नवीन पद्धति के विकास में आचार्य महाप्रज्ञजी का जो महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, उसे भी नहीं भुलाया जा सकता। उन्होंने विपश्यना से बहुत कुछ लेकर भी उसे प्राचीन हठयोग की षट्चक्र भेदन आदि की अवधारणा से तथा आधुनिक मनोविज्ञान और शरीर विज्ञान से जिस प्रकार समन्वित और परिपुष्ट किया है, वह उनकी अपनी प्रतिभा का चमत्कार है। यहाँ विस्तार से न तो विपश्यना के सन्दर्भ में और न प्रेक्षाध्यान के सन्दर्भ में कुछ कह पाना संभव है, किन्तु यह सत्य है कि ध्यान-साधना की इन पद्धतियों को अपना कर जैन साधक न केवल जैन ध्यान-पद्धति के प्राचीन स्वरूप का कुछ आस्वाद करेंगे, अपितु तनावों से परिपूर्ण जीवन में आध्यात्मिक शान्ति और समता का आस्वाद भी ले सकेंगे।

सम्यक् जीवन जीने के लिए विपश्यना और प्रेक्षाध्यान पद्धतियों का अभ्यास और अध्ययन आवश्यक है। हम आचार्य महाप्रज्ञ के इसलिए भी ऋणी हैं कि उन्होंने न केवल प्रेक्षाध्यान-पद्धति का विकास किया अपितु उसके अभ्यास केन्द्रों की स्थापना भी की। साथ ही जीवन-विज्ञान ग्रंथमाला के माध्यम से प्रेक्षाध्यान से संबंधित लगभग ४८ लघुपुस्तिकाएँ लिखकर उन्होंने जैन ध्यान-साहित्य को महत्त्वपूर्ण अवदान भी दिया है।

यह भी प्रसन्नता का विषय है कि विपश्यना और प्रेक्षा की ध्यान-पद्धतियों से प्रेरणा पाकर आचार्य नानालालजी ने समीक्षण ध्यान-विधि को प्रस्तुत किया और इस संबंध में एक-दो प्रारंभिक पुस्तिकाएँ भी निकाली हैं; किन्तु प्रेक्षाध्यान-विधि की तुलना में उनमें न तो प्रतिपाद्य विषय की स्पष्टता है और न वैज्ञानिक प्रस्तुतीकरण ही। अभी-अभी क्रोध समीक्षण आदि एक-दो पुस्तकें और भी प्रकाश में आयी हैं किन्तु इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पद्धति को वैज्ञानिक और प्रायोगिक बनाने के लिए अभी उन्हें बहुत कुछ करना शेष रहता है।

वर्तमान युग और ध्यान

वर्तमान युग में जहाँ एक ओर योग और ध्यान संबंधी साधनाओं के प्रति आकर्षण बढ़ा है, वहीं दूसरी ओर योग और ध्यान के अध्ययन और शोध में भी विद्वानों की रुचि जागृत हुई है। आज भारत की अपेक्षा पाश्चात्य देशों में योग और ध्यान के प्रति विशेष आकर्षण देखा जाता है, क्योंकि भौतिक आकांक्षाओं के कारण जीवन में जो तनाव आ गये हैं, वे उससे मुक्ति चाहते हैं। आज भारतीय योग और ध्यान की साधना-पद्धतियों को अपने-अपने ढंग से पश्चिम के लोगों की रुचि के अनुकूल बनाकर विदेशों में निर्यात किया जा रहा है। योग और ध्यान की साधना में शारीरिक विकृतियों और मानसिक तनावों को समाप्त करने की जो शक्ति रही हुई है, उसके कारण भोगवादी और मानसिक तनावों से संत्रस्त पश्चिमी देशों के लोग चैतसिक शान्ति का अनुभव करते हैं और यही कारण है कि उनका योग और ध्यान के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है। इन साधना-पद्धतियों का अभ्यास कराने के लिए भारत से परिपक्व एवं अपरिपक्व दोनों ही प्रकार के गुरु विदेशों की यात्रा कर रहे हैं। यद्यपि अपरिपक्व, भोगाकांक्षी तथाकथित गुरुओं के द्वारा ध्यान और योग-साधना का पश्चिम में पहुँचना भारतीय ध्यान और योग परम्परा की मूल्यवत्ता एवं प्रतिष्ठा दोनों ही दृष्टि से खतरे से खाली नहीं है। आज जहाँ पश्चिम में भावातीत ध्यान, साधना भक्ति वेदान्त, रामकृष्ण मिशन आदि के कारण भारतीय ध्यान एवं योग-साधना की लोकप्रियता बढ़ी है वहीं रजनीश आदि के कारण उसे एक झटका भी लगा है। आज श्री चित्तमुनिजी, स्वर्गीय आचार्य सुशीलकुमारजी, डॉ० हुकमचन्द्र भारिल्ल आदि ने जैन-ध्यान और साधना-विधि से पाश्चात्य देशों में बसे हुए जैनों को परिचित कराया है। तेरापंथ की कुछ जैन-समणियों ने भी विदेशों मे जाकर प्रेक्षाध्यान-विधि से उन्हें परिचित कराया है। यद्यपि इनमें कौन कहाँ तक सफल हुआ है यह एक अलग प्रश्न हैं, क्योंकि सभी के अपने-अपने दावे हैं। फिर भी इतना तो निश्चित है कि आज पूर्व और पश्चिम दोनों में ही ध्यान और योग-साधना के प्रति रुचि जागृत हुई है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि योग और ध्यान की जैन-विधि सुयोग्य साधकों और अनुभवी लोगों के माध्यम से ही पूर्व-पश्चिम में विकसित हो, अन्यथा जिस प्रकार मध्ययुग में हठयोग और तंत्र-साधना से प्रभावित होकर भारतीय योग और ध्यान परम्परा विकृत हुई थी उसी प्रकार आज भी उसके विकृत होने का खतरा बना रहेगा और लोगों की उससे आस्था उठ जायेगी।

ध्यान एवं योग संबंधी साहित्य

इस युग में गवेषणात्मक दृष्टि से योग और ध्यान संबंधी साहित्य को लेकर पर्याप्त शोधकार्य हुआ है। जहाँ भारतीय योग-साधना और पतञ्जलि के योगसूत्र पर पर्याप्त कार्य हुए हैं, वहीं जैन-योग की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ है। ध्यानशतक, ध्यानस्तव, ज्ञानार्णव आदि ध्यान और योग संबंधी ग्रंथों की समालोचनात्मक भूमिका तथा हिन्दी-अनुवाद के साथ प्रकाशन इस दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयत्न कहा जा सकता है। पुन: हरिभद्र के योग संबंधी ग्रंथों का स्वतंत्र रूप से योग चतुष्टय के रूप में प्रकाशन इस कड़ी का एक अलग चरण है। पं० सुखलालजी का 'समदर्शी हरिभद्र' अर्हददास बंडोबा दिघे का पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान से प्रकाशित -जैन-योग का आलोचनात्मक अध्ययन', मंगला सांड का 'भारतीय योग' आदि गवेषणात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रकाशन कहे जा सकते हैं। अंग्रेजी भाषा में विलियम जेम्स का 'जैन-योग', डॉ० नथमल टाटिया की 'Studies in Jaina Philosophy', पद्मनाभ जैनी का 'Jain Path of Purification' आदि भी इस क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं जैन-ध्यान और योग को लेकर लिखी गई मुनिश्री नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) की 'जैन-योग' 'चेतना का ऊर्ध्वारोहरण', 'किसने कहा मन चंचल है', 'आभामण्डल' आदि तथा आचार्य तुलसी की प्रेक्षा-अनुप्रेक्षा आदि कृतियाँ इस दृष्टि से अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें पाश्चात्य मनोविज्ञान और शरीर-विज्ञान का तथा भारतीय हठयोग की षट्चक्र की अवधारणा को भी अपने ढंग से समन्वित किया है। उनकी ये कृतियाँ जैन-योग और ध्यान-साधना के लिए अवश्य मील का पत्थर साबित होगी।

संदर्भ

१. Mohenjodaro and Indus Civilization, John marshall Pub.- Indological Book House, Delhi, 1973 Vol. I. Page 52-
२. Dictonary of Pali Proper Names, By G.P. Malala-Sekhara Pub.- John Murray, Albemarle Street, London, (1937) Vol. I. P. 382-83.
३. सूत्रकृतांग सूत्र, संपा॰-मधुकर मुनि, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, १९८२, १/३/४/२-३
४. स्थानांगसूत्र, संपा॰-मधुकर मुनि, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, १९८१, १०/१३३ (इसमें अन्तकृ दृशा की प्राचीन विषय वस्तु का उल्लेख है)
५. इसिभासियाइं- (ऋषिभाषित) संपा०- महोपाध्याय विनयसागर, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, १९८८,अध्याय २३
६. वही, अध्याय २३
७. वही २२/१४
८. उत्तराध्ययनसूत्र संपा०- साध्वी चन्दना, प्रका० वीरायतन प्रकाशन, आागरा, १९७२; २६/१८
९. श्रमणसूत्र (उपाध्याय अमरमुनि), प्रका०- सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सं० २००७ प्रथम संस्करण पृ० १३३-१३४
१०. उत्तराध्ययनसूत्र संपा०- साध्वी चन्दना, प्रका०- वीरायतन प्रकाशन, आगरा, १९७२; २३/५५-५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. भगवद्गीता गीता प्रेस, गोरखपुर, ६/३४
१२. तत्त्वार्थसूत्र विवे०- पं० सुखलाल संघवी, प्रका०- पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९७६; ९/२७
१३. गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर ६/३४
१४. उत्तराध्ययनसूत्र संपा०- साध्वी चन्दना, प्रका०- वीरायतन प्रकाशन, आगरा, १९७२; २३/५६
१५. पुढो छंदा इह माणवा, पुढो दुक्खं पवेदितं। -आचारांग १/५/२/१५२ अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहए पूरहत्तए- आचारांग सूत्र, संपा०- मधुकर मुनि प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर १९८०; /३/२/११८
१६. ध्यानशतक (झाणाज्झयण) जिनभद्र क्षमाश्रमण, विनयसुन्दर ग्रन्थमाला, जामनगर, वि०सं० १९९७ ९३-९६
१७. वही, ९७-१००
१८. वही, १०१
१९. वही, १०२
२०. वही, १०३
२१. वही, १०४
२२. आवश्यकनिर्युक्ति प्रका०- सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, गा० १४६२
२३. आवश्यकसूत्र- आगारसूत्र (श्रमणसूत्र-अमरमुनि) प्र०सं०,पृ० ३७६.
२४. उत्तराध्ययनसूत्र संपा०- साध्वी चन्दना, प्रका०- वीरायतन प्रकाशन, आगरा, १९७२ २८/३५
२५. तत्त्वार्थवार्तिक संपा०- महेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७ ६/२४/८
२६. धवला, पुस्तक ८, पृ० ८८ (दंसण-णण-चरित्तेसु सम्ममवट्ठाणं समाही)
२७. योगः समाधिध्यानमित्यनर्थान्तरम् तत्त्वार्थन्तरम्। तत्त्वार्थराजवार्तिक संपा०- महेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७; ६/१/१२
२८. कायावाङ्मनः कर्म योगः। तत्त्वार्थसूत्र,विवे० पं० सुखलाल संघवी प्रका०- पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, १९७६; ६/१
२९. योगश्चित्तवृत्ति निरोधः। योगसूत्रम् संपा०- पं० धुन्धीराज शास्त्री, प्रका०- चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९३० १/२ (पतंजलि)
३०. 'युजंपी योगे' हेमचन्द्र धातुमाला, गण प्रका०- जैनग्रन्थ प्रकाशन सभा, अहमदाबाद, १९३०,७
३१. उत्तराध्ययनसूत्र संपा०- साध्वी चन्दना, प्रका० वीरायतन प्रकाशन, आगरा १९७२ ३०/३०
३२. आवश्यकसूत्र-आगारसूत्र
३३. योगशास्त्र संपा०- मुनि समदर्शी, प्रका०- सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६३ १२/२
३४. अभिधम्मत्थसंगहो, संपा०- भदन्त रेवतधम्म, प्रका०- संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, बुद्धाब्द- २५१०, ५/१
३५. भारतीय दर्शन (दत्ता),पृ० १९०
३६. योगशास्त्र, संपा०- मुनिसमदर्शी, प्रका०- सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६३ १२/५-६
३७. तत्त्वार्थसूत्र विवे०- पं० सुखलाल संघवी, प्रका०- पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी १९७६ ९/२७
३८. वही ९/३१
३९. वही ९/३६
४०. ध्यानस्तव (जिनभद्र, प्र० वीर सेवा मंदिर)२
४१. तत्त्वार्थसूत्र विवे०- पं० सुखलाल संधवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९७६ ९/२७
४२. भगवतीआराधना, विजयोदया टीका- देखें ध्यानशतक प्रस्तावना पृ० २६.
४३. पंचास्तिकाय कुन्दकुन्द, प्रका०- परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमत राजचन्द्र आश्रम, अगास, वी०सं० २४९५ १५२
४४. णाणेण झाणसिद्धि
४५. ज्ञानार्णव संपा०- पं० बालचन्द्र शास्त्री, जैन-संस्कृति-संघ, सोलापुर, १९७७ २७/२३-३२
४६. वही, २८/११
४७. वही, २८/१०
४८. 'गोदोहियाए उक्कुडयनिलिज्जाए'।कल्पसूत्र १२०
४९. उत्तराध्यनसूत्र संपा०- साध्वी चन्दना, प्रका०- वीरायतन प्रकाशन, आगरा, १९९२ २६/१२
५०. उपासकदशांग ८/१८२
५१. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधे ध्यानम्। तत्त्वार्थसूत्र- ९/२६
५२. तत्त्वार्थ-स्वोपज्ञ भाष्य, उमास्वाति ९/२६
५३. ज्ञानार्णव- संपा०- बालचन्द्र शास्त्री, जैन संस्कृति संघ, सोलापुर १९७७ ३२/९५, ३६/१-८, मोक्खपाहुड ७
५४. अप्पा सो परमप्पा
५५. तत्त्वानुशासन सिद्धसेन गणि, प्रका०- जीवन चंद साकरचंद झवेरी, सूरत, १९३० ७४
५६. मोक्खपाहुड अष्टप्राभृत, कुन्दकुन्द, प्रका०- परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, आगरा, १९६९,५
५७. तत्त्वार्थसूत्र,विवे० पं० सुखलाल संघवी, प्रका०- पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी १९७६ ९/३१-४१
५८. ज्ञानार्णव संपा०- पं० बालचन्द्र शास्त्री, जैन संस्कृति संघ, सोलापुर, १९७७; ४/१०-१५
५९. वही, ४/१६
६०. वही, ४/१७
६१. वही, ४/१८-१९
६२. वही, ४/३३
६३. तत्त्वार्थसूत्र विवे०- पं० सुखलाल संघवी, प्रका०- पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी, १९७६; ९/२९
६४. वही ९/३०, ध्यानशतक जिनभद्र क्षमाश्रमण विनयसुन्दर चरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org